

मूल्य ३००

●प्रकाशक

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
दिल्ली

●मुद्रक

श्री गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस
दिल्ली

●चित्रकार

एन० छापघर

●प्रावरण व रूपसज्जा

एसोसिएटिड आर्टिस्ट्स
नई दिल्ली

दो शब्द

'साठ वरें एक रेगासन' मे मेरी चार वानाएँ मगृहीत हँ, जो इधर छात्रागवारी मे प्रचारित हो रही हँ। इन्हें सुन्दर पुस्तिका रूप मे पाठकों को भेंट करने का श्रेय गणरमन प्रकाशन को है।

इत निवर्धों मे मेरे अत्यन्त मक्षित रूप मे अपने वार्षिक जीवन के प्रम-विषय की रूप-रेखा भर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। मेरे व्यक्तिगत जीवन-तथ्यों को इन्हे पर्याप्त स्थान नहीं मिल सका, उससे निम्न उपद्रवक क्षेत्र तथा अक्षम भी नहीं जा। मेरे मासिक को हृदयगत करने मे मेरे मासिक जीवन-प्रवाह के मे पद-सदेन, सम्भवतः, सहायक हो सकें, इन्ही छात्रा मे, मेरे मन मे इन्हे प्रकाश की स्वीकृति दी है। इन्हे अनिश्चित परि इन्हे पाठकों का मनो-रत भी हो सका तो सुभे प्रयत्नता होगी।

१२/७ बी० गणरमन गारी मार्ग,
पटना, १० मई, १९६०

सुशिलानन्दन शर्मा

प्रकृति का अन्त

१९०७-१९१८ ६

दिवान-मूत्र और अत.नघर्ष

१९१९-१९३० २४

प्रमाण और वास्तु संघर्ष

१९३१-१९४४ ४३

नव मानवता का स्वप्न

१९४५-१९४६ ६०

प्रकृति का अंचल

सन् १९०७ से १९१८ तक

जब स्मृति-पत्र में मन को विगत की ओर ले जाता है तो आगों के नामने, जने, फूलों के लिये अस्मान स्वर्ग में अनेक रंग-बंध को पशु-जियां भरते लगती है—ऐसी प्रतीत होती है जब वे जिन्दगी-जीवन की क्षण-क्षण घटनाएँ ! उन मरिचक वेगों को ध्यान में रखते हुए यह गठित हो जाता है कि उनमें से कौनसे रंग-बन्ध मनु के क्षण चुने जायें, जिन्हें स्मृति अपने मृतक के अंचल में लय में गँजीवे हुए है। मेरी जन्म मनु १९०० में २० मई के दिन हुआ था। मेरी जन्म-भूमि गौरीगढ़ी है, जिसे कृष्णोत्तर की एक विविष्ट गौरीगढ़ी-माली माना जाता है। जिसकी कुलना गार्गीणी में निवृत्त-रत्न-मैत्री है। और जहाँ मनु में मेरा प्रतीत होता है कि देवताओं के उद्योग के लिए, निरंतर गौरीगढ़ी-माली की उदात्त जन्म है।

जाता तो मुझे ऐसा प्रतीत होता जैसे मेरा हृदय फिर ने अपनी खोई हुई मगीत की लय में बँध गया हो। तंगानी मेरे लिए स्वप्नों की रजत हरित भीम-नी की जिनके वियुक्त होकर मेरे प्राण बालू में मद्धनी की तरह छटपटाने रहते थे।

अल्मोडा के नागरिक वातावरण में मुझे अपनी गाम-जीवन की नीमित रचियाँ तथा मनोविन्याय की रमिया पटकने लगी। गाँव के छोटे-से घर में अल्मोडे में पिताजी की विद्यालय सुन्दर अट्टालिका में रहने में एक दिनेश प्रयाण के गौरव का अनुभव होने लगा। प्रकृति के एतान मोदर्य के अभाव की पूर्ति धीरे-धीरे नगर के सुष-वैभव का जीवन करने लगा। सन्ने पढ़ने मेरा ध्यान अपने नाम पर गया। तंगानी की पाठशाला में मेरा नाम गुमाराधन था। पिताजी ने माँ की मृत्यु के बाद मुझे एक गोस्वामीजी को गौर दिया था, जिन्होंने रागण मुझे भी गौगार्द का गुमार्द रहने थे। मेरे गते में एक म्नाध भी बैसा रहता था। अल्मोडा जाने पर अपना नाम मैंने सन्. ही मुमिदातक रख लिया था। मेरे बड़े भाई ने एक बार बचकन में रहा था कि अरेनी गौवज में उनके जिनो मित्र का नाम मुमिदातकन था, जो उन्हें पर भी दिया करने थे। उनकी के नाम में मैंने अपना नाम रखा। पर मुझे उसका मित्रपुत्र भी स्मरण नहीं है। मेरी माँ का नाम सरस्वती था, जिसे मैंने अपनी कानना के लोदकर गौदेरी का रूप दे दिया था। अपना नाम से गौगार्दो में भी जाने नाम में अपना बदला था, पर सरस्वतीलक मुझे न जाने क्यों बदला नहीं लगता था। क्योंकि मैं पर में उँडा भाई था, इसलिए मैंने मन में अपना नाम मुमिदातक रखकर सलोप प्रकट किया। तदुपराजी के लिए नाम में लोटे लोटे के रागण सुषण के



काम नहीं चल सकता था। गहर के अनेक क्रिया-तलाशों को देखकर एव उनमें सम्मिलित होने का अवसर पाकर दृष्टिकोण स्वतः ही व्यापक होने लगता है। यद्यपि महत्त्वपूर्ण प्रभाव अल्मोडे में मेरे मन में पहले-पहल श्री स्वामी सत्यदेवजी के विचारों तथा भाषणों का पडा, जो नत्ताह में दो-एक बार अवश्य ही सुनने को मिल जाते थे। स्वामीजी के भाषण देश-प्रेम तथा भाषा-प्रेम से प्रीत-प्रीत रहते थे। वह अन्त में राष्ट्र-प्रेम के अपने भजन भी सुनावा करते थे। अपने भाई तथा स्वामीजी के वाच्य-पाठ के ढग में मेरे मन में यह वात अपने-आप ही बैठ गई थी कि कविता को गेय होना चाहिए। स्वामीजी के प्रयत्नों से नगर में 'शुद्ध साहित्य समिति' के नाम से हिन्दी का एक मार्गदर्शक पुस्तकालय भी गुरु गया जो मेरे हाईस्कूल पाठ करने के बाद भी कुछ वर्षों तक चलता रहा। पुस्तकालय का संचालन बड़े मुचारे रूप से होता था। उसमें उन समय की अनेक प्रमुख पत्र-पत्रिकाएँ तथा प्राचीन-नवीन प्रकाशनों में काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, जीवनी आदि सभी प्रकार के ग्रन्थों का अच्छा संग्रह हो गया था। तैमानी में मेरे मन में साहित्य-प्रेम के बीज पड़ ही चुके थे, अल्मोडा गहर के पुष्पित-पल्लवित होने लगे। गहर की पुस्तकों में भेरा जो हटकर साहित्य के रम-मनोहर में निरगम रहने लगा। कहानी, उपन्यास, कविता आदि सभी प्रकार के ग्रन्थों में अपने कमरे के एकान्त में स्वाद लिया जाता था। ग्रन्थों को सबसे छिपाए रखने की सुझने प्रवृत्तिद्वारा थापिता गयी है। एतान्तप्रियता का भेरा गोपन स्वभाव धीरे-धीरे साहित्यिक अनुराग में उर्वर हो उठा। स्वभावतः ही अन्त-सुखी होने के कारण तथा सम्भवतः मेरे मित्रों-सुते तथा अपने साथ खेलने-बहने में किसी प्रकार का उन्माह न होने

भी वृद्धि होने लगी। श्री जोगीजी तथा श्यामाचरराजी के सम्पादन में तब अल्मोडा में एक या दो हस्तलिखित साहित्यिक पत्र निकलने लगे, जिनमें मैं प्रायः नियमित रूप में लिखा करता था। वे मुख्यतः मेरी छन्द-साधना के प्रयोग रहे हैं। मन्व १९१७ के हस्तलिखित 'सुधाकर' नामक मानिक के मर्द के अंक में मेरी एक छोटी-सी रचना 'शोकाग्नि और अश्रुजल' मिलती है जिसे यहाँ उद्धृत करता हूँ।

जो शोक अग्नि में प्रति ज्वाला कराने उठनी
 यह अग्नि बिन्दु जल के क्यों रूप में बदलती ?
 क्या यह नहीं बनाती सम्बन्ध जल अरत में ?—
 क्या ? यह तुम्हें जलाता श्री' में तुम्हें उबाता !

उन काल की मेरी रचनाओं में मुख्यतः श्री गुप्तजी तथा हरिऔधजी का प्रभाव छन्द तथा मन्द-योजना की दृष्टि में लक्षित होना है। तब 'भारत-भारती', 'जयद्रथ-वध', 'रंग में भग', 'पियप्रवाम', 'कविता कलाप' आदि काव्य-ग्रन्थ तथा मिश्रवन्तु विनोद और हिंदी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय के अनेक उपन्यास 'छन्दमाला' आदि तथा कहानी-संग्रह 'मन्व-सुच्छ' आदि का तथा बंकिम चन्द्र के अनुवादों का अमोघ ने बड़ा प्रचार था। सद्भाविलास प्रेम तथा श्री वेंकटेश्वर प्रेम के प्राचीन साहित्य सम्बन्धी ग्रन्थ तथा ग्रन्थ भी अनेक पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं में उन दिनों हमें अपनी साहित्यिक रचि की रचना करने में सहायता मिली थी जिनकी स्थाप मेरी तब की बाल-कृतियों में, सम्भवतः मिल सकती है। पर मेरे कतिपय विषयों में तब तथीयता भी मिलती है। 'सम्प्राप्त का पुष्प', 'ताम्र के फूल', 'मिर्जा या घटा' आदि अनेक रचनाएँ उन्ही दिनों लिखी गई थीं, जिनमें मन्द-योजना की दृष्टि में, मन्व तथा सभित्तिका की दृष्टि में, परिष्कृता भन्ने ही न नहीं हो पर भावना की दृष्टि में उनमें मौलिकता दृष्टिगोचर होती है। 'सम्प्राप्त का पुष्प' मूँ

आँखे मूँदकर जब अपने किशोर-जीवन की छाया-वीथी में प्रवेश करता हूँ तो नीली प्लेटो से पटी, ढालू छत के पहाड़ी घर का चहारदीवारी से घिरा छोटा-सा आँगन पलको में नाचने लगता है। एक ओर पत्थर का पक्का चबूतरा, दूसरी ओर छोटा-सा मंदिर है। चबूतरे पर बैठा मैं पढता हूँ और काँस की ढेरी-मी गोरी बूढ़ी दादी की गोद में सिर रखकर, साँझ के समय, दनकथाएँ और देवी-देवताओं की आरती के गीत सुनता हूँ। बड़ी परिहास-प्रिय है मेरी दादी। उनकी क्षीण दतहीन कठध्वनि— 'माई के मँदिरवा में दीपक वारूँ' या 'हो रही जँजेकारी शिवा तेरे बाँके भवन में' पहाड़ी भुटपुटे में अब भी नीद लाने वाली भीगुर की झनकार-सी गूँज रही है। आँगन के उम छोटे-से मन्दिर में कोई प्रतिमा या मूर्ति नहीं है। वचपन का जिज्ञासा-भरा मन छोटे-से द्वार से बार-बार भीतर पैठकर धँवलके में कुछ टटोलता हुआ-गा, घबडाकर बाहर निकल



होकर मैंने वह रचना 'नरस्वती' नामक मासिक पत्रिका में छापने के लिए श्री द्विवेदीजी के पान भेज दी थी। गप्ताह-भर के भीतर ही द्विवेदीजी ने गुप्तजी के हस्ताक्षर के नीचे 'अम्ब्वीकृत, म० प्र० द्वि०' लिखकर रचना मेरे पान लौटा दी।

मन् '१६' से लेकर '१८' तक की मेरी रचनाओं के दो संग्रह 'कलरव' तथा 'नीरव तार' के नाम से थे जो मन् '२०' में हिन्दू बोर्डिंग हाउस में मेरी चारपाई में आग लग जाने के कारण जल गए। उन दिनों मैं चारपाई के पाये पर मोमवत्ती रखकर नेटकर पटा करता था। मेरी अनुपस्थिति में मोमवत्ती के जलकर नमाप्त हो जाने पर उसकी दत्ती में विस्तरा, चारपाई तथा गिटकी का एक बिचाट जलकर राग हो गया था। इन नगहों की प्रायः आधी दर्जन रचनाएँ जो मुझे स्मरण की पीछे 'बीगा' नामक काव्य-संग्रह में सम्मिलित कर दी गईं। 'कलरव' तथा 'नीरव-तार' नामक कविताएँ अपने परिवर्तित रूप में 'गुजल' की कविताओं में मिला दी गईं। 'नीरव तार' तथा उन समय की कुछ अन्य रचनाएँ हिन्दू बोर्डिंग हाउस की पत्रिका में भी प्रकाशित हुई थीं जिनके सम्पादन विभाग में तब मिश्रवर भी रामनाथ नेठ भी थे। उन्हीं समय की मेरी कुछ रचनाएँ तब रामनाथ नेठ प्रकाशित 'हिमालय' नामक मासिक-पत्र में, प्रताप की 'सर्वांग' नामक पत्रिका तथा मेन्ट में निराले वाली 'तन्त्र' नामक पत्रिका में भी प्रकाशित हुई थीं।

सन् १९०६ में मुझे स्मरण है कुछ समयकर मासिक-पत्रों में मेरे प्रकाशन विरोध में एक दल का गुट बना दिया था। मेरी अनेक पत्रोत्तरनाएँ तब गुप्त नामों तथा उतनामी से सम्मिलित पत्र-पत्रिकाओं में निराले की थीं। मैं तदुपान में अत्यन्त आत्मरक्ष, शिष्टता तथा सुदृढता था। लोगों की हिमालय की सम्मिलित में मेरे प्रकाशों में एक अत्यन्त आत्म-

आना है। एक ओर दो आड़ू के पेड़ हैं—एक मेरा, दूसरा
 मँकले भडया का। आड़ू की जलने हलही लनछीही
 कलियो मे लड जाती है और आंगे एकटक उनके फालमर्त
 आकाश मे खो जाती है। चहारदीवारी के बाहर हरे-भरे
 प्रमार और नीली स्पहली ऊँचाइयाँ हैं, जिनमे मेरा मन
 बहुत रमता है। बाँडे ओर, लम्बे नीटे गहरे हरे रंग के
 मन्वमली कालीन-नी फँली, कत्यूर की जाड़ू की घाटी है।
 नामने गेन्वी मिट्टी की पहाड़ी मे कई टेटी-मेटी पगडटियाँ
 माँप की कैचुली-नी पडी कल्पना को भटकानती है। पहाड़ी
 के ऊपर कोपलो का मर्मर बग्गा हुआ रंग-दिरगा अन-
 रिध बाँक के वृक्षों की स्पहली बनानी, और ऊँचे रमों
 पर गडा चोट का बन है। अहाते के बाहर ही प्रहरी-ना
 ऊँचा देवदार आममान की ओर हरियाली का फव्वारा-
 ना फूट पडा है। उनकी शोभा-गरिमा का क्या रहना ! यह
 धनी हरीनिमा का निरन्तर कापना हुआ एक पर्वत-शिखर
 ही तो है। उनके पके फलों मे जब पीली-पीली चुन्नी भर-
 कर हवा के आचल से रँग देती है तब तो मन त्योहार
 मनाने लगता है, एक अजब-सी चुन्नी नम-नम मे दीपने
 लगती है। किन्तु उन सबमे उपर, बहुत उपर, और बहुत
 ऊँचा 'स्वित पृथिव्या उव मानदः' स्वयं नगाधिनाज
 देवात्मा हिमालय, अपने दूर शिखरव्यापी पाप रचनाएँ, मानव
 सुभ्र राजमराज की तरह, नि गीम मे निबिग् उड़ना हुआ-
 गा, दृष्टि से आस्नगंनगिन नया मन को आत्म-विस्मृत रग
 देता है। 'आन्मिया' नामक रचना मे मैंने गीमकी या
 नगर्गन इन प्रमाण लिखा है .

हिमगिरि प्रातर या दिग् हरित, प्रशुनि खोड लनु शोभा शक्ति,
 मय गुँघी रेशमी वायु पी, मुज्ज नील निरि पगों पर स्थित !
 धारोही शिमगिरि पर्वतों पर रहा प्राण वह मरदा मति धन,
 अदामत,-मारोहृत् के प्रति मृग्य प्रवृत्ति का प्राण समंरु !

इससे निर्मम तथा कुरूप रूप मेरे प्रति कभी धारण नहीं किया। मेरे घात निःशुद्ध स्वभाव ने नभी परिस्थितियों में मेरी रक्षा ही नहीं की, मुझे स्कूल के छात्रों के प्रेम तथा प्रशंसा का भी पात्र बनाया।

स्कूल के नाटकों में मुझे अधिकतर स्त्री-पात्रों का ही अभिनय करने को मिलता था। प्रयाग आने पर भी मैं जी० एल० राय के नाटकों में प्रायः स्त्री-पात्रों की ही भूमिका में उतरा हूँ। नवी रक्षा में एक बार जब मैं अभि-मन्यु बना था तब डैडमास्टर साहब की आग्ल-पत्नी ने स्टेज पर आकर मुझमें कहा था कि तुम राजकुमार का पार्ट खेलने के लिए ही बने हो। मुझे रमरण है जब अभि-मन्यु की मृत्यु के बाद अप्सराओं ने प्रवेश कर 'उठो वीर चलो गुरु-राजभवन, तुम दिन चद्रलोक अधियागे, मृतो देव नदन' आदि करण गीत गाया था तब बहुत से स्त्रियाँ रोने लगे थे।

उन प्रकार मेरे किमोश कवि-जीवन के अनेक सुतहरी गमनियों में लिपटे प्राग्भिन्न वर्ष कीमती और अन्मोटे में प्रकृति की एकांत छाया में व्यतीत हुए। अन्मोटे का वरान् अगती एक रचना में मैंने उन प्रकार लिखा है।

'सो, चित्र शतमनी पर गीत उठने को है सुमुनि पाटी,
यह है अन्मोटे का वसन, चित्र पत्ती निमित्त पवन पाटी !'

सन् १९१२ में मेरे मैंने भाई जय हाईस्कूल पाठ्य-तर केने पर वरिष्ठ कालेज में शिक्षा प्राप्त करने बनारस गये तो मुझे भी उनके साथ के चित्र मंत्र दिया गया। मुद्रा-क्षितिज में एक पैदाये हुए पक्षी की चरत अन्मोटे की नवम प्रकृत निर्गम मुद्रा पाटी को लोडनर काले में मुझे हुए तो गया, पर तारी की देखने का उन्माह की मेरे मन में गम रानी था।

‘कूर्माचल’ नामक मेरी दूसरी रचना में कीसानी की स्मृति इस प्रकार अंकित है .

छुटपन से विचरा हूँ मैं इन धूप-छाँह शिखरों पर
दूर, क्षितिज पर हिल्लोलित सी दृश्यपट्टी पर निःस्वर
हलकी गहरी छायाओं के रेखांकित-से पर्वत
नील, वेंगनी, रक्त, पीत, हरिताभ वर्ण श्री छहरा
मोहित अंतर में भर देते आदिम विस्मय गहरा,
अतिरिक्त विस्फारित नयनों को अपलक रख तट्टत् ।

प्रकृति के ऐसे मनोरम वातावरण में मेरा मन अपने-आप उस निर्निमेष नैसर्गिक शोभा में तन्मय रहना सीखकर एकांत-प्रिय तथा आत्मस्थ हो गया । मेरे प्रबुद्ध होने से पहले ही प्राकृतिक सौन्दर्य की मौन रहस्य-भरी अनेकानेक मोहक तहें, अनजाने ही, एक के ऊपर एक, अपने अनन्त वैचित्र्य में, मेरे मन के भीतर जैसा जमा होती गई । अपने पिताजी के शान्त, उदार व्यक्तित्व का भी छुटपन में मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा । उनका उन्नत शरीर शख के मंदिर के समान गौर तथा पवित्र था । वह अपने निर्भीक, निश्चल चरित्र के कारण एक जीवित हिम-शिखर-में लगते थे । पिताजी के पास अनेक उच्च-कोटि के माधु-मत आते रहते थे, जिनके लिए अज्ञात रूप से मेरे मन में तही गभीर स्थान रहा है । प्रकृति की उस शुभ्र निभृत अधित्यका में, मेरे किशोर-मन को पार्श्व-भूमि के सौन्दर्य के अनिर्गन्त जिन धार्मिक तथा साहित्यिक प्रभावों ने छुआ उनमें एक प्रमुख प्रभाव मेरे बड़े भाई का भी है । मेरे भाई उच्च साहित्यिक रुचि रखते थे । वह अत्यन्त मुरझाए हुए ‘मेघदूत’ तथा ‘शकुन्तला’ के छंद नहीं जानते थे । सुनाकर, मानते, उनमें प्रणय-निवेदन करने थे । मन्दिर तथा अग्नेयी साहित्य का उनका अच्छा अभ्यसन था । हिन्दी तथा पंजाबी दोनों में कविता भी करने थे । मन्दिर के बतौर पंजाबी सुभाषिणी कविताएँ पढ़ी

व्यक्त की है। श्रीमती नायडू की मन्द-बोजना तथा खीद्र की कल्पना, सौन्दर्य-बोध तथा उत्तरी रचनाओं में निहित अमीम के स्पर्श ने मेरे मन को प्रभूत रूप में अभिभूत किया। उन कवियों में कल्पना तथा सौन्दर्य के पक्ष के लिये मेरा मन भीतर-ही-भीतर किसी नयीन प्रदुर्भूति के भावना-लोक में उड़ जाने के अविगम प्रयास में जैसे व्यग्न रहता था। मुझे स्मरण है मैं अपने लम्बे कमरे में प्रथम सामने की एकांत छत पर अतमने चित्त में घूमता हुआ अपने मन की मूक आकाशता में कविता की उस सौन्दर्य और रस-भरी स्वप्न-भूमि का साक्षात्कार करना चाहता था, जिन्हीं भाविकां मुझे श्रीमती नायडू तथा खीद्र की रचनाओं में मिलती थी और जिसे वाणी देने के लिए मेरे भीतर व्यजना की पृष्ठभूमि नीतिगत तथा द्वितीय-युग के कवियों के रसबोध तथा युगबोध ने भरी मधुर गहन रचनाएँ अज्ञात रूप में निहित कर रखी थी। मेरी 'प्रथम-रत्न' तथा 'आत्मपत्र जीर्णक कविताएँ बरतारम ही में लिखी गई थीं। स्कूल की पाठ्य-पुस्तकों पर मैं रतारम हृष्टि-भर बोलूँ किया करता था। हाईस्कूल की परीक्षा समाप्त होने पर जब मैं छुट्टियों में फिर से गौनाली की 'पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेग' वाली काव्यभूमि में पहुँचा तो वहाँ मैंने अभिमान 'बोधा' निरीड के 'प्रतीक' तथा 'रत्न' नामक छोटा-सा संग्रह लिख लिया। उत्तरी गौली तथा भावभूमि में मैंने सम्भवतः बरतारम में कविता अपने साधु-साधुओं को अपनी निम्नोक्त क्षमता के अनुकूल वाणी देने की चेष्टा की है।

बरतारम में मुझे भाई के गृहस्थों में मुझसे भी उम्मीद-रही रचनाएँ नामक साधु-साधुओं के कबीर की बरतारम कविताओं को सुनने का सुनकरा संयोग प्राप्त हुआ

मार्मिक होती थी और 'अल्मोडा अन्धकार' नामक साप्ता-
 हिक में भी पीछे प्रकाशित होती रहती थी। भाई के पास
 'भरस्वनी' पत्रिका तथा 'वेकटेज्वर' नामाचार पत्र आते थे।
 उनके पुस्तकालय में हिन्दी, अंग्रेजी, मसूदा तथा ब्रजभाषा
 के अनेक ग्रन्थ थे। मेरी बहन को भी साहित्य में स्वाभा-
 विक अनुराग था। उनके अनिश्चित घर में भाग्यन, गीता
 तथा रामायण का पाठ प्रायः नित्य हुआ करता था। मेरे
 फूफा अत्यन्त प्रभावोत्साहक टंग में प्रातःकाल यजुर्वेद का
 पाठ कर-संचालन-पूर्वक किया करते थे। कभी-कभी
 फूफाजी की तरह हाथ तन्त्रावर में दैविक मन्त्रों की ध्वनियों
 की नतान उतारकर मित्र-मण्डली का मनोरंजन किया
 करता था। संगीत का प्रेम मेरे कभी भाई-बहनों तथा
 चचेरे भाइयों को रहा है। स्वर-ताल का ज्ञान मुझे छुटपन
 में ही था और बैरवी, काफी, भूपाली, रसमाला आदि प्रमुख
 गानों को भी मैं तब पहचान लेता था। उत्तम और योग्यता
 पर मे बड़े समारोह में मनाए जाते थे।

कौमारी में तब चाय का दगीचा था जिनमें भुण्ड-ये-
 भुण्ड पहाड़ी युवक-युवतियाँ काम करने थे। नवरे-भाग
 प्रायः उनकी झेलियाँ गाती हुई नैरगी पहाड़ी पगडि़यों पर
 निकलती थी। त्योहार के दिनों में संगीत बन्दों में उगरे
 नाच-नाचों का दृश्य मनोमोहक होता था।

ऐसे अवसरों पर वे अपने गीत-दृश्यों में गिताली का
 अभिवादन करने आते थे और कभी-कभी स्वांग भी करते
 थे। उन पक्षों पर वे सत्तावरण में भी मुझे प्रारम्भिक
 सत्तावरण के समान ही एक मनोमोहक संगीत तथा तब
 निकली रही है जिनमें सम्भवतः मेरे भीतर का सम्भवतः
 का पोषण किया जो तब सम्भव मेरे सत्तावरण में
 सम्भवतः था। गिताली की जगति सम्भवतः लगे थे, सम्भवतः

गैली की सफल कल्पना, अष्टमवर्ष के प्राज्ञ प्रवृत्ति-प्रेम, कार्निज की अपमाधारगता तथा डेनिनन के ध्वनिबोध ने भेरे त्रिविधा-नाम्बन्धी रूपविधान के ज्ञान को अग्रिम पुष्ट, व्यापक तथा सूक्ष्म बनाया। उन त्रिविधों की विभेदताओं को हिन्दी शब्दों में उतारने के लिए वेग लगाकर भीतर-ही-भीतर प्रयत्न करता रहा। काव्य-संगीत में व्यक्तियों की योजना में शक्ति तथा चित्रान्तरता, और स्वरो की सहायता में सूक्ष्मता तथा मार्मिकता यानी है, उसका ज्ञान मुझे अंग्रेजी त्रिविधों के रूप-गिल्प के बोध ने ही प्राप्त हुआ। गीतिकाव्य में अनिदन्वित अनुप्रासों की पुनरक्ति केवल एक जाद्विक चमत्कार बनकर रह जाती है। अनुप्रासों के त्रिदिष्ट सव्यमिन् प्रयोग में किन प्रकार भावनाओं की व्यञ्जना अग्रिम प्रेक्षणीय बन जाती है यह मैंने अंग्रेजी काव्य के अध्ययन में ही सीखा। 'पञ्चम की भूमि' में मैंने स्वर-संगीत, ध्वनि-प्रभाव आदि शब्दों के रूपविधान-नाम्बन्धी उपकरणों का विस्तृत विवेचन किया है। मेरी मूल '२६ तक की रचनाओं में—जिनमें 'उत्कृष्टान', 'संगीत', 'वादन', 'अनग', 'संगीत निम्बन्ध', 'वीचि-विधान' तथा 'परिवर्तन' आदि मुख्य हैं—उपरोक्त त्रिविधों का सार्वभौम प्रभाव परिलक्षित होता है।

छायावाद नाम दूसरी पीढ़ी की कविता पर सञ्चार बोधे आरोपित विज्ञान गया। जिन दिनों ही मैं चर्चा कर रहा हूँ मैं उस शब्द में परिचित नहीं था। छायावाद की भूमिका में भी जो मूल '२६ के प्रारम्भ में लिखी गई थी छायावाद शब्द नहीं जाना है। 'विद्या की भूमिका' में मूल '१९०७ में उस शब्द का प्रयोग प्रथम किया है। उस मूल की कविता के लिए उस समय का लीला-अली-चित्र ने कुछ भी पूरा-सुखाना नाम का ही काव्य-विज्ञान

अल्मोडा, रानीखेत, नैनीताल आदि शहरो से घर में अतिथि-अभ्यागतों का बराबर आना-जाना लगा रहता था और घर के वातावरण में एक चहल-पहल रहती थी ।

चौथी कक्षा तक मेरी शिक्षा कौसानी के वर्नाकुलर स्कूल में हुई । मेरे फुफेरे भाई वहाँ अध्यापक थे और मुझे गोद में लाते ले जाते थे । मुझे सबसे पहले कापी में मन् १९०७ लिखने की याद है, और याद है स्कूल में अपने मधुर छद्मपाठ की, जिसके लिए मुझे स्कूलों के इन्स्पेक्टर ने एक पुस्तक पुरस्कार-स्वरूप दी थी । मुझे यह भी स्मरण आता है कि काली तम्बू पर वारीक मिट्टी विछाकर उसमें एक तबीन लिपि का आविष्कार करने की होशियारना था, जिसमें मुझे पुस्तकों के ऊपर माथापच्ची न करनी पड़े और मैं अपनी ही भाषा में समस्त ज्ञान दे सकूँ ।

मेरी माँ की मृत्यु मेरे जन्म के छ-मान घण्टे के भीतर ही हो गई थी, पर तौमानी की गोद मुझे माँ की गोद में भी अधिक प्यारी रही है । 'प्रात्मिका' में मने लिखा है

प्रकृत क्रोध में छिप, क्रीडाप्रिय, तृण तरु की बातें सुनता मन,
विहगों के पखों पर करता पार नीलिमा के छाया वन ।

रगों के छोटों के नव दल गिरि क्षितिजों को रखते चित्रित,
नव मधु की फूतों की देही मुने गोद भरती मुख विस्मृत ।

कोयल आ, गाती, मेरा मन जाने कब उड़ जाता वन में,
षड् ऋतुओं की सुषमा अपलक तिरती रहनी उर दपण में
ऋषियों की एसाग्र भूमि में मैं किशोर रह सका न चलन,
उच्च प्रेरणाओं से अत्रिन्त आदोलित रहता अनस्तन ।

प्रायः दस या ग्यारह साल की उम्र में मुझे जब गवर्न-मेण्ट हाईस्कूल में शिक्षा प्राप्त करने अल्मोडा भेजा गया तो एक वर्ष तक मैं बड़ा उदास तथा अस्वस्थ रहा जैसे किसी ने वन के पक्षी को पिता में वन्द कर दिया हो । जाड़ों की तम्बू छट्टियों में जब मैं फिर पिताजी के पास तौमानी

चेतना के उन मूल तत्वों तक नहीं पहुँची थी जिनका
 गान्धिव्य पाने के लिए मेरे हृदय में गोपन द्वन्द्व चला
 करता था। काव्य के बाह्य मूल्यों का यत्किञ्चित् ज्ञान प्राप्त
 कर लेने पर भी मेरा कवि तब स्वतन्त्रचेता नहीं बन सका
 था, जिनके लिए मुझे आने वाले वर्षों में अविगत तपस
 करना पड़ा। काव्य-चेतना के सरकार के साथ ही मेरे
 भीतर आत्म-परिष्कार तथा सामाजिक अभ्युदय की पृथिवियाँ
 अरमोटे में किनारावन्था ने ही जाग्रत हो चुकी थी।
 काव्य-सृजन के साथ आत्मोन्नयन तथा सामाजिक उत्थान
 की समन्वयाओं पर मेरा मन समानान्तर रूप से अपने मान-
 निक वौद्धिक विज्ञान के अनुस्यू बराबर मोच-गिनार
 करता रहा है। जब मैं 'पलतव' की रचनाएँ लिखकर काव्य-
 बोध तथा कला-शिल्प में परिपक्वता प्राप्त करने का प्रयत्न
 कर रहा था, उन्ही दिनों गांधीजी के नेतृत्व में देश की
 स्वतन्त्रता का आन्दोलन गम्भीर तथा व्यापक रूप धारण
 कर हमारी पीढ़ी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहा
 था। सन् १९०१ के आन्दोलन में अपने मँझवे भाई के
 कहने पर मैंने पानेज छोड़ दिया था। वह प्रवृत्ति मुझे
 प्रचली तरह बाद है। परीक्षा के दिन निरन्तर होने के
 कारण मैं अपने कक्ष में बैठा वर्तमान की पक्ति वाला
 एक ब फादर ऑफ मैत्र ही पढ़कर अपने में उदात्त
 बुद्ध मोच रहा था। जब मद्रास भाई ने, जो उनी छात्रा-
 यन में रहते थे, हमारे में प्रवेश कर कला, गांधीजी का
 प्दागमन मुझे नहीं चलेगा ?' गांधीजी का प्दागमन ?
 मुझे विशेष उत्साह प्राप्त करने न देकर उन्हीने यह
 होकर कहा, 'दया, तुम परीक्षा में उनीयाँ होने की इच्छा
 रखोगे। चलो, उन्हीने दया के मेरे साथ चलो।' मैं
 उन दिनों गांधी पढ़ता था, उन्ही में बुद्ध का प्दागमन

प्रभाव और वाह्य संघर्ष

सन् १९३१ से १९४४ तक

इन सक्षिप्त लेखों में, मुझे भय है, मैं अपने एक जीवन की अर्पणगी का केवल अधिपान-भर उन्मिश्रित रूप नकूंगा। यदि भविष्य में कभी मुझे शक्ति की निरंतर या आश्चर्यवता प्रतीति हुई तो मैं अपने सम्बन्ध में अतिरिक्त विस्तारपूर्वक कहूंगा। कालेज छोड़ने के बाद मुझे अपने साथ रहने अथवा अपने भीतर दूरते का अधिपान सुयोग मिल गया। 'दल्लव' के प्रमाण के बाद मेरे मन के पृष्ठ-गर्भ-पृष्ठ भागों के सामने मुझे लगे तौर मुझे चेतन्य के भीतरी स्तरों का सोझ-दृष्टा परमाणु मिलने लगा। यहाँ लक्ष्य में उल्लास ही नहीगा कि मैं एक शक्ति की जन्मी पराम-विन्मूा ही उठता या और यदि 'अज्ञान-मेघ' का भीला पोदा का 'होर्' तो लगे तो अज्ञान की देह का उन्नीची सोढता नगत था। पहले में भी मैं अज्ञान पराम-

नेतालीम

मेरी कुछ ऐसी धारणा थी कि वह वडे ही सुन्दर और सुकुमार थे, उनका लालन-पालन वडे प्यार से हुआ था। सबसे विचित्र बात यह थी कि तब मेरे मन में न जाने कब यह बात जम गई थी कि 'मे सुकुमार नाथ वन योगू' लक्ष्मणजी ने कहा है। 'स्वर्ण-धूलि' में 'लक्ष्मण के प्रति' शीर्षक एक कविता है, उसमें भी मैंने उन्हें 'मेरे मन के मानव लक्ष्मण' कहा है। अपने व्यक्तित्व का छुटपन में मैंने उनके साथ तादात्म्य कर लिया था। यह भी, मेरी समझ में, मेरा अपने लिए सुमित्रानन्दन नाम चुनने का कारण रहा है। पीछे जब मैं कभी स्कूल के लड़कों से डरता था तो मुझे विश्वास रहता था कि मेरा कोई कुछ नहीं कर सकता, लक्ष्मणजी उन्हें अपने तीर से गिरा देंगे।

अल्मोडे में दूसरा ध्यान मेरा अपनी वेश-भूषा की ओर गया। मेरा सुन्दर वस्त्र पहनने का शौक बढ़ता गया। हाई-स्कूल तक और पीछे भी, मैंने इतने सुन्दर और अपने मन के इतने नमूनों के कपडे पहने हैं कि अपने को किसी प्रकार भी असुन्दर देखने की कल्पना तब मेरा मन नहीं सहन कर सकता था। छठी कक्षा में मैंने अपने भाई की लाइब्रेरी में, जिसका नाम पीछे मैंने 'नन्दन पुस्तकालय' रख दिया था, नपोलियन का युवावस्था का सुन्दर चित्र देखकर स्वयं भी लम्बे घुँघराते बाज रंग लिए। तब-कर्म को अपनाते वा निर्णय सम्भवतः अपने जानकी-आठवी कक्षा में लिया और कवि के नाथ जेजो का सम्बन्ध में पीछे टैगोर के चित्र को देखकर जोड़ना।

किन्तु नहर में रहने में जो मुझे बात मेरे मन में पैदा हुई वह थी व्यक्तिगत के निर्यात तथा प्रतिष्ठा की मूर्त्ता। नगर का नटर-भट्टन का जीवन देखकर नीचे-नादे टग में रहने का अपनी ही भावनाओं के माध्यम में टग रहने में

भावात्मक दर्शन (फिनाँगफी आँफ पाँजिटिविज्म) को जन्म दिया उस सबकी सम्मिलित प्रतिक्रियास्वरूप चिन्तन-जीवन तथा मानव-जीवन के प्रति मेरी आस्था तथा आशा बढ़ती गई। अपने उम्र युग के विचार एवं भावना-जगत् को मैंने, अपने बढ़ते हुए दृष्टिकोण के अनुकूल, नव 'धुगान' नामक अपने काव्य-संग्रह तथा पाँच कहानियों में प्रारम्भिक अभिव्यक्ति दी। अपने भीतर अनुभव प्राप्त करने का मेरा एकान्त आग्रह नवीन सामाजिक व्यवस्था की धारणा में व्यापक तथा परिपुष्ट हो रहा और व्यक्ति को अपने भीतर एक नये मानव के रूप में बदलने के साथ ही बाहर में भी एक नवीन सामाजिक प्राणी के रूप में बदलना है, मेरी यह धारणा मजबूत तथा समृद्ध होती गई।

'बुत भरो जगत के लीखेपत्र, हे धरत व्यस्त, हे सुधर सीरों' का
'कंकाल जान जग में फँसे फिर नवल स्थिर पत्थर जाती' का

'गा, कौकिल, नर गान कर मृगत, रज मानव के हित धून' का,

'करे समुज नर जीवन बावत — यदि 'धुगान' में व्यक्त भावनाएँ मेरे मानसिक जीवन के एक मौलिक परिणाम तथा गम्भीर दिग्दर्शनों के उदय की सूचना देती हैं। मानव-जीवन सम्बन्धी सम्भावनाएँ एवं आकाश में फैली चिन्ता रूपों में मेरा कला-गहन-सम्बन्धी दृष्टिकोण भी समझने लगा। मृत-जीवन के मोह, पारिवारिक जीवन के दबन तथा श्रेष्ठ-सपोषण में सुगत, मैं उन जिनों मज-मान के समुद्र में अधिक निर्यातों, विचारों और भावनाओं के समुद्र के रूप में जीवित रहने लगा। मेरा मन हल-चल की गतिविधि तथा मानव-सक्रिय एवं शरीरों के शक्ति का मे निरन्तर पकड़ रहा, शरीर प्रयोग 'पत्थर' के रूप में मेरी रचनाओं में एक-दूसरे पर लिखे हैं। 'सुगत में लिखे, सुगत सुगत, मानव सुन समझे सुगत' के शब्द मेरी



मान पत्र (१९१०)

सन् '३४ में, जेल में टूटने के बाद गांधीजी ने मिलने दिखी गये और मुझे भी अपने साथ ले गए। उन्हें वहाँ पानी गन्ध-क्रिया के लिए भी जाना था। नमन-तप्यग्रह का आन्दोलन प्रायः समाप्त हो चुका था। गांधीजी ने उन दिनों नव्याग्रह आन्दोलन को अधिक व्यापक तथा समाप्त वागने के लिए ग्राम-संगठन का कार्य प्रारम्भ कर दिया था। तब तब हरिजन कालोनी में दहरे हुए थे। हम लोग जब उनमें मिले तब वह भोजन कर रहे थे। कुछ अन्य लोग भी उनके पान उपस्थित थे। उन भेद में कुछ ही क्षणों में मुझे गांधीजी के महत्त्व व्यक्तित्व का अतन्वय मिल गया तब मुझे ज्ञान हुआ कि गांधीजी कितने हृदयवान महापुरुष हैं। अपने इन आत्मिक अनुभव की बात को मैंने रजिस्टर में इस प्रकार कहा है :

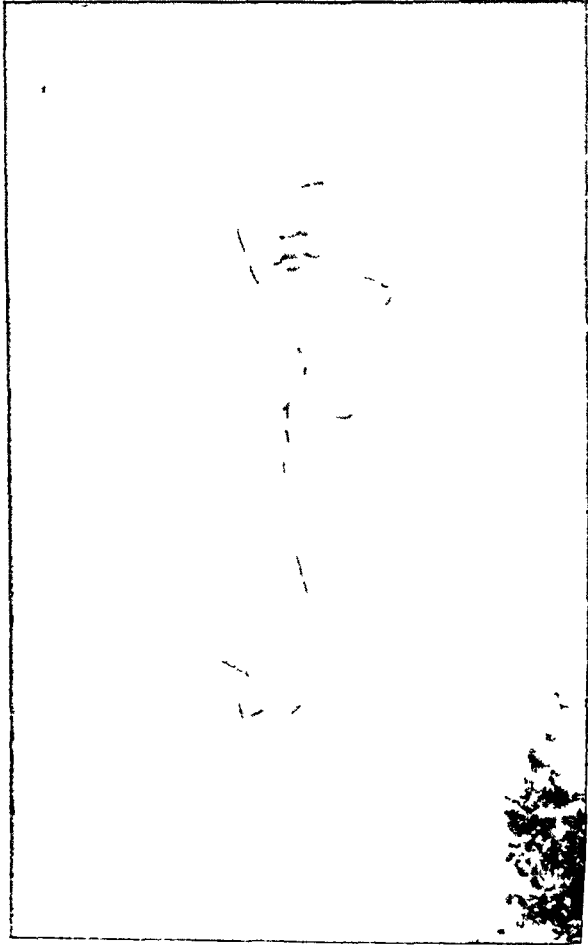
प्रथम भेद में सित हृदय को सूक्ष्म करण, हृदय विमल प्रेमिण,
स्फुरित इन्द्रधनु शक्ति विनिर्मित हुआ मनोमय रूप उद्भासित,
विदित चेतना में जब तब गुरा होता उद्भव हेतु प्रयत्नित
लोक अन्विता से संघर्ष करना पड़ता उसे अन्विता । अन्विता ।
मैंने 'आपू के प्रति' शीर्षक अपनी पहली रचना गांधीजी पर सन् '३६ में प्रारम्भ में उन भेद में वाद की लिखी ।

तुम भाव, तुम्हीं हो स्वन अन्वि, निमित्त जिन्हे नवपुत्र का वा,
तुम धन्य, तुम्हारा नि स्व त्याग ही निर्यभोग स्व कर साधक ।

अन्वि ।

तब से जब भी मेरा मन युग-संघर्ष के शीर्षक-संग्रह में आकाश हुआ मैंने गांधीजी का स्मरण किया है और जिन रूप में भी मैं बहता कर जाता, मैंने उनके व्यक्तित्व में मान्यता दी है और मेरे स्वर में तब से गांधीजी का स्वर गर्दर प्रियमान रहा है। गांधीजी के उन ही व्यक्तित्व ने जिन शीर्षक-संग्रहों में मैंने भीतर रचना की उसे मुझे निर्यभोग अन्विता में आकाश

युवा पन्न (१६०६)



नहीं।

'पल्लव-गु जन' के सौन्दर्य-रत्नना-लोक में बाहर निकलकर मेरा युग-जीवन की वास्तविकता का स्वागत करना रीति-काव्य के नमूनों में पत्नी रचि को किसी प्रकार भी कवि-कर्म नहीं प्रतीत हुआ। पर मेरे मनोविक्रम के लिए युग की वास्तविकता को आत्ममान् करना एक अनिवार्य प्रावश्यकता बन गई थी। 'युगवाणी'-'ग्राम्या' में मैंने गांधीवाद-मार्क्सवाद का समन्वय करने की चेष्टा तो नहीं की है, पर हाँ, गांधीवाद के शुद्ध नाथन—जिनका अर्थ में मानवीय गायन नेता है—के सिद्धान्त तथा उनके नास्तिक पक्ष को मेरा मन महत्त्व देता रहा है और मार्क्सवाद की जनतंत्र की धारणा मुझे सर्वत्र अधिक वास्तविक तथा वैज्ञानिक लगती रही है। दोनों के जीवन-दर्शनों में मेरे मन की जो रचि कर तथा नगहरीय प्रतीत हुआ है, उसे मेरे उन युग की रचनाओं में स्वतः ही वाणी मिल गई है। 'नमाजवाद' और 'गांधीवाद' शीर्षक रचना में मैंने 'युगवाणी' में कहा है -

मनुष्य का तब निगता निश्चय हमने गांधीवाद,
सामूहिक जीवन दिशात की साम्य योजना है प्रतिवाद।

सपनी उन मान की रचनाओं के सम्बन्ध में मैं अपनी भूमि-
ताओं में सर्वोच्च प्रकाश प्राप्त हुआ है।

यान्त्रिकता में भी स्वतन्त्रता-समान की स्थापना होनी
रहती थी। राजा राज्य स्वयं शक्ति में। उनके जीवन-
काल में मुझे जो-तब बार उनके राज राज्य में स्वतन्त्रताओं
के दर्शनों में जाने का अवसर मिला है। गांधीजी के
उपदेशों तथा साम्यवादियों में मन उद्वेगित होता रहा
था और मैंने उन्हें देखते हुए उनके समाचार पत्रों को
जो पढ़ता रहा था। हमारी पीढ़ी की भावनात

मानि-निकेतन मुझे उन्नीसवीं शती की मान. मॉन्दर्वे-उखें, कला-प्राण मन्धा प्रतीत हुई। उनमें वेग के स्वतन्त्रता-सुद की अनुभूज मुनने जो नहीं मिली, न वर्त के वातावरण में बीसवीं शती की महत्तम जीवन-प्रमाण की स्पेडना तथा प्रभव-वेदना ने गुजरिन अरथार-प्रमाण के सधर की प्रेग्गाप्रद सक्रिय चापा की ही प्रतिध्वनि मुता दी। आन के गुजन मन्धान में भजीवन तथा मान्यता की नये रूप के टालने तथा नयी दिशा की ओर ने जाने की जिन प्रत्य-धमना की आगा की जाती है उसका नयन प्राणों को दर्श मित नरा।

सन् '३८ में मेने 'हजार' नामक पत्र का संपादन किया जिनमें श्री नरेन्द्र शर्मा का अभिन्न सहयोग रहा। नगर का प्रकाशन प्रयाग में होता था। उसका उद्देश्य सामाजिक सांस्कृतिक चेतना को जन-जागरण का एक इकाया था। गौभाग्यवन, साहित्य-प्रेमियों ने तब उनका अच्छा स्वागत किया था और उसने उन युग की पद्यरचना को भी अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित किया था। सुंदर सुसंगठित द्वारा संपादित किनोरो के लिए उपयोगी 'सुमार' नामक मुक्ति-सम्बन्ध नामिक-पत्र भी उन दिनों सादासादा में प्रकाशित होता रहा है जिनमें मुझे काफी रुचि थी है। दोनों पत्रों के साहित्यिक पक्ष का संश्लेष तैयार साहित्य को करने थे।

सन् '४० के प्रारम्भ में 'साप्ताहिक' की संपादन के सम्पादन हो जाने पर मेने सन् '४० में सन् '४० में सन् '४० में मेरा कार्य सम्पादन हो गया है। सन् '४० में साप्ताहिक में सन् '४० का विचार किया था तब भी मेरे सन् '४० का विचार मुझे ही परो — स्वतन्त्रता को सन् '४० है। सन् '४० के पार में साप्ताहिक के बाहर ही रहा।

के कारण वाणी का मौन कक्ष मेरा निवास तथा साहित्य मेरे जीवन-मन का अवलम्ब ही हो गया। छठी कक्षा में मैंने जाड़े की दो-ढाई महीने की छुट्टियों में 'हार' नामक एक खिलौना-उपन्यास लिख डाला, जिसमें उस समय के मेरे साहित्यिक अध्ययन का प्रभाव स्पष्ट रूप से झलकता है। कविता का प्रयोग सर्वप्रथम मैंने पत्र लिखने के रूप में किया था। अपनी बहन से अपने छन्दबद्ध पत्रों की प्रशंसा सुनकर मैं बड़ा प्रोत्साहित होता था। कौसानी में मैंने अपने भाई के अनुकरण में कुछ ढीले-ढाले रखता छन्द भी लिखे थे। एक का विषय वागेश्वर का मेला था, जहाँ मैं अपनी दादी के साथ गया था, दूसरी कविता वकीलो के घन-लोभी स्वभाव पर थी। उन दिनों बड़े भाई के एक वकील मित्र कुछ समय के लिए कौसानी शिकार खेलने आए थे।

साधु-सन्तो तथा योगियों का प्रभाव अल्मोडा में भी मेरे ऊपर ज्यो-का-त्यो बना रहा। एक बार मैं एक लम्बे गोरे घुँघराले केंगो वाले साधु के सुन्दर रूप, मधुर स्वभाव तथा विद्वत्तापूर्ण भाषणों से आकर्षित होकर, स्कूल की पढाई टोड़कर उनके साथ जाने को तैयार हो गया था। जब भाई को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने माधुजी को न जाने क्या ममभाया-बुभाया कि एक दिन वह भाई के पाग में लिए एक सुन्दर तार की बधी उपहार-स्वरूप छोड़कर चुपचाप कहीं चले गए। मैं उनके इस प्रकार चले जाने के कारण बहुत दिनों तक बड़ा दुखी रहा। अल्मोडा आने के चार वर्ष बाद, जब मैं आठवीं कक्षा में था, मेरा परिचय श्री गोविन्दवत्सल पन्त (नाटककार), उनके भतीजे श्यामाचरणदत्त पन्त, जो तब हमारे यहाँ रहने लगे थे, इलाचन्द्र जोशी तथा अन्य साहित्यिक वन्दुओं से धीरे-धीरे बटने लगा और मेरी साहित्यिक आस्था तथा अनुराग में

दूसरा संस्कृति-केन्द्र में मैं मंच तथा अभिनय-सम्बन्धी कला सीखने तथा केन्द्र-संचालन-सम्बन्धी अनुभवों का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न गोजना चाहता था। उदयशर्कर का मंच मुद्रण-नृत्य-मञ्च था, यद्यपि नाट्यों के अभिनय की भी वही व्यवस्था ही रहती थी। किन्तु उदयशर्कर तब अपने 'बालना' नामक नाट्य-टी. व्ही. व्ही. बनाने में व्यस्त थे। मुझे भी उन्होंने उसी काम में लगा लिया। संस्कृति-केन्द्र में साल-भर तक भारतीय नृत्यों तथा लोक-नृत्यों के बारे में जानने तथा उन्हें देखने का अच्छा अवसर मिला। सन् १९४३ में मैंने उदयशर्कर के द्रूप के साथ दो-तीन सहीने भारत-भ्रमण भी किया। यह समय अनेक दृष्टियों में मेरे लिए शिक्षादायक ही रहा। किन्तु मेरे अन्तरगत मैं एक अवसाद तथा अतृप्ति मुझे घेरती रही है और अपने जीवन के साथ ही मानव-जीवन की सार्थकता को जतने की साथ निरन्तर मेरे मन में चकती रही है। मन की इस अस्थिर अवस्था की स्थिति में अनेक सत्यों का लगातार भ्रमण करने में श्राव तथा जीवन में सकारण में कुछ समय के लिए फिर मेरा साथ छोड़ दिया। शीघ्रताव तक अपने मन तथा देह में जाने के बाद सन् ४४ में मुझे 'बालना' चित्र के निरन्तर में सफल ज्ञान प्राप्त था। मैं भी उदयशर्कर से, स्त्रियों की सुविधा के कारण, अपने नाट्य-चित्र का निर्माण करने का निश्चय किया था। 'बालना' में मैं अतिरिक्त समय का नहीं था मंच, किन्तु सफल ज्ञान मेरे लिए सारीयक तथा सार्थक दोनों दृष्टियों में सफल मानदायक निराल दृष्टि, किन्तु सच में प्रतीति में चलेगा।

तो मैंने उसे अपना घर ही बना लिया है।" बाबो-ही-बाबो में उनमें साहित्य तथा दर्शन-सम्बन्धी चर्चा छिड़ गई। मि० रूम्बर वड़े विद्याव्यगती व्यक्ति थे, उनके पुस्तकालय में अनेक विषयों की पुस्तकें रहती थीं। उन्होंने मुझसे कहा, "तुम्हारे विचार श्री अरविन्द में बहुत मिलते-जुलते हैं। मुझे स्वयं उनके दर्शन में बड़ी शान्ति तथा पेरगा मिली है। तुम उनमें अवश्य पढ़ो।" यह कहकर उन्होंने अपनी अलमारी में 'लाउफ़ डिवाज़न' या प्रथम भाग निकालकर मेरे हाथ में रख दिया।

'साम्या' के प्रणयन तथा नव् ४२ के प्राबोलेन के बाद मेरी विचार-धारा में फिर एक परिवर्तन आने लगा था और मेरा मन साहित्य, संस्कृति तथा दर्शन-ग्रन्थों में अधिक रमने लगा था। संस्कृति केन्द्र के बन्दात्मक वातावरण में मेरा नौन्दर्य-प्रिय जीवन-दृष्टा मेरे भीतर फिर जगने लगा। मुझे पता चलने लगा कि एक पूर्ण विद्वान् समाज में मनुष्य को चवस्य ही नौन्दर्य-प्रेमी तथा संस्कृत होना चाहिए। किन्तु नौन्दर्य और संस्कृति का व्यापक सङ्घटन क्या हो और पूर्ण विद्वान् समाज की स्थापना कब, कैसे, किस रूप में संभव हो सकेगी, जिसमें नौन्दर्य आत्मो-प्रदान तथा मोक्ष-जीवन की प्राप्ति का मार्ग बन सके यह सब मेरे भीतर निरन्तर चलता रहता था। मार्क्स के प्रणयन के बाद संस्कृत मोक्ष-जीवन का सङ्घटन मेरी विचार-धारा का एक प्रगण बन गया था। किन्तु इस सङ्घटन के लिए राजनीतिक-सांसारिक मान्यताओं की कुरि तथा भीति उनसङ्घों के विनाश तथा ही पूर्ण होगा इस पर मेरे बहुत विचार उठने लगे थे। मार्क्स के इस नुन्दर्य-प्रिय तथा संस्कृत समाज में जाने पर भी यदि सङ्घटन-संसार भीतर में उल्लेख न हो सके तो न ही उमर उल्लेखन सङ्घटन

से बाहर निकलकर कहता है—यद्यपि लोग प्यार के बहाने मुझे अपने हृदय में बन्दी रखना चाहते हैं पर मैं स्वतन्त्रता-प्रेमी होने के कारण बाहर निकलकर मुक्त आकाश में समा जाना अधिक श्रेष्ठ समझता हूँ। उन दिनों के भाषणों में जो स्वाधीनता की भावना मिलती थी उसीकी प्रतिध्वनि उक्त रचना में है। कागज के फूलों का एक रंगीन स्तवक कोई सज्जन कभी मेले के दिनों में मेरे भाई को भेट कर गए थे, उसे देखकर मैंने कहा है—इस नकली रूप-रंग से कब तक धोखा देते रहोगे ? मानव-हृदय भ्रमर की भाँति ही गुण का प्रेमी होता है, तुम्हारे गध-मधुहीन जीवन का वह कैसे आदर करेगा ?

हमारे घर के ऊपर गिरजाघर था, जहाँ रविवार को प्रातः काल नित्य घण्टा बजा करता था, उसकी शान्त मधुर ध्वनि तब मुझे बहुत आकर्षित करती थी। 'गिरजे का घण्टा' शीर्षक रचना में मैंने लिखा था—तुम्हारे स्वर चहलते हुए पक्षियों की तरह मेरे भीतर छिपकर शान्ति का संदेश दे जाते हैं।

उसीका परिवर्तित रूप पीछे 'घण्टा' शीर्षक कविता में मिलता है जो 'आधुनिक कवि भाग दो' में प्रकाशित है, जिसका एक अंश यहाँ उद्धृत करना है

नभ की उत नीली चुप्पी पर घण्टा है एक टेंगा सुन्दर
जो घड़ी-घड़ी मन के भीतर फुट कहता रहता बज-बजकर ।
भरते स्वर उर में मधुर रोग — जागो रे जागो कामचोर,
हूँ प्रकाश में दिशा छोर, श्रव हृया भोर, शत्रु हृया भोर । इत्यादि ।

उपर्युक्त रचना में अपने मित्रों-चापत्य के कारण नीचे रंग के गन्दाग्रेटेड पेपर पर उतारकर श्री गुप्तजी के पास उनकी सम्मति के लिए भेजी थी। गुप्तजी ने अपने पत्र-साक्षर-वर्ग को अपने हाथों में दो-चार प्रश्नों के साथ लिखकर मुझे बतलाना कहा था, जिसमें प्रोत्साहित

जिज्ञाना तथा उत्सुकता उनके योग तथा दर्शन के प्रति अधिक बढ़ने लगी ।

एक वर्ष बाद जब मैं अपनी दीर्घ अस्वस्थता से मुक्ति पाने पर मई १९४४ में मद्रास पहुँचा तो मैं यह बिलबुल ही भूत गया था कि वहाँ मे छोटी ही दूर पर पाञ्चिरी है, जहाँ श्री अरविन्द का साधना-केन्द्र एक आश्रम भी है । जब पॉन्-छ महीने बाद उदयशकर टुप के कुछ व्यक्तियों ने पाञ्चिरी जाने की उच्छा प्रकट की तो उनके साथ मैं भी आश्रम देखने के लिए चला गया । वहाँ के वातावरण से मुझे एक अज्ञान आकर्षण तथा वहाँ के जीवन में एक विशिष्ट सौन्दर्य-गणिमा तथा शान्ति मिली । उन दो-तीन वर्षों में, जब तक मैं दक्षिण भारत में रहा, मुझे अनेक बार पाञ्चिरी जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । आश्रम के स्वच्छ प्रभाव तथा श्री अरविन्द के उज्ज्वल सम्पर्क से आने के कारण मेरी आध्यात्मिक मान्यताओं-सम्बन्धी धारणाएँ अधिक उन्नत, विकसित तथा पृष्ट हुईं । 'शान्ता' के बाद मेरे मन में जो चिन्तन-भाग चल गयी थी, उसका यहाँ आकर परिपाक हुआ । मेरे 'स्वर्ग-किरण' तथा 'स्वर्ग-सूक्ति' नामक काव्य-कृतियों की रचनाओं मद्रास तथा बम्बई में लिखी गईं । मेरी दृष्टि में उनमें 'सुजन', 'ज्योत्स्ना' तथा 'शान्ता' के चिन्तन तथा मूल्यों की स्वाभाविक परिणति तथा विकास हुआ है । मेरे उस युग की रचनाओं में, जिसे मैं कैलाशपुर का युग कहता हूँ, मेरे चिन्तनों तथा भावनाओं में स्पष्टता तथा व्यापकता, संतो में प्रीति, प्रार्थना तथा भौतिक सम्बन्ध-त्मक मूल्यों-सम्बन्धी दृष्टिकोण में सम्पूर्ण सर्वांगी तथा सामान्य चिन्ता है । इन सर्वोक्त सवरस में मैं श्री अरविन्द-दर्शन को वहाँ तक आकर्षित कर सका ।

विभीषिका ने भी अधिक, भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में जो औदास्य तथा नैराश्रय सरकारों के दमन तथा गांधीजी आदि नेताओं के कारागृह में बन्दी रहने के कारण नर्वज छाया हुआ था वह रह-रहकर चित्त को विचित्रित करता रहा है। नदस्य दर्शक होते हुए भी मुझे बाह्य आन्दोलनों की प्रगति से भीतर मदेव आया तथा प्रेरणा का प्रयाग मिलता रहा है। भारतीय स्वतन्त्रता-संघाम तथा गांधीजी का व्यक्तित्व मेरी भावना-धारा के अविच्छिन्न अंग रहे हैं। दिल्ली के अनिश्चित मुझे महात्माजी के मिलने का संयोग प्रयाग, बम्बई, मद्रास आदि स्थानों में अनेक बार प्राप्त हो सका है। गांधीजी के समर्ग में मुझे नदव आत्म-बल तथा आत्म-विश्वास मिला है और श्री प्रवरिन्द के सम्पर्क में मेरा मानसिक दिनदिन व्यापार, गहन तथा सूक्ष्म बन सका, ऐसा मेरा अनुभव है।

मन् १९४६ में प्रयाग की समता ने मुझे फिर उत्तर-भारत बुला लिया, और दक्षिण-भारत में बम्बई शोना हुआ में जुलाई में प्रयाग लौट आया। जाते में उत्तर में नदों का प्रदोषण में, जाते गाँवों में नदों का बलने में, मुझे ऐसा प्रतीत होता है, रहता में अपने ही भीतर है। बाहर की परिस्थितियों में, जिनमें लोग भी है, में इतना निमग्न एवं व्यथित रहता है कि जब तक परिस्थितियाँ ही मुझे बाध नहीं करती, में अपनी उच्छ्वास में कभी आना-शान्त नहीं। जाना-संसार का भी मेरा ऐसा ही अनुभव है। जाना-संसार में मेरे रहने का स्थान इतना एकात्म में, बन्दी में रहकर था कि मेरे मित्त जो ही दिन में कभी के एकात्मिक में उच्छ्वास मुझे प्रायः पूरा करती थे कि में जंगल के भीतर ऐसी निरर्थक सुगन्ध जगल में अपने ही पृथी में जैसे का नेता है। तब में परिस्थान में अपने बलता था कि में हृद

विश्वास, अदम्य आशा तथा महत् उत्साह भर दिया था जो आगे चलकर भी मेरे जीवन का सबल रहा। मेरे भीतर तब एक अज्ञात मानसिक आनन्द की लहर तथा अनिर्वचनीय पवित्रता के अभिजात सस्कार मुझे अकेले एकान्त में रहने को बाध्य करते थे। सबसे मिलना तब सम्भव न था, मैं अपने साथियों तथा सहयोगियों से बहुत कम मिलता-जुलता या बोलता था और उनके साथ हँसी-खेल में भी नहीं के बराबर भाग लेता था। इसी कारण मेरे समवयस्क मुझे आत्माभिमानी समझकर, मुझमें अमत्तुष्ट रहते थे। बहुत पीछे भी अनेक लोग मुझमें इसी कारण अप्रमन्न हो गए थे। स्कूल में भी मेरी मित्रता अपने ही में थी। मैं अपने सुन्दर बरतों तथा अगो को प्यार करता था। कोई उन्हें न छुए, इसका मुझे ध्यान रहता था। मेरे सहपाठी मेरे पीछे कानाफूसी करते थे, पर उन्हें मेरे विनम्र सुकुमार मोन को छेड़ने का साहस नहीं होता था। हमारे हिन्दी पंडितजी कुछ प्रमन्न कुछ खीभे-से रहते थे। वह मुझे 'मशीनरी आफ वर्ड्स' कहा करते थे। उक्त पंडितजी हमारे घर के पास ही रहते थे। मैं उन्हीं के साथ स्कूल आता-जाता था। उन दिनों मुहल्ले और बाजार के तडकों में आपस में कुछ तनातनी रहती थी। इसलिए मुझ-जैमें सरत प्राण मिशोर का रास्ते में या मेले-ठेलों में अकेला आना-जाना अच्छा नहीं समझा जाता था। मेरे स्वभाव के विनम्र हँसमुख मोन में मन-ही-मन कुटकर लटकों ने मेरा नाम 'शुगरकेन रख दिया था। मैं तब दुबला-पतला होने के कारण लम्बा लगता था और अपनी पीढ़ी के मिशोरों में सुन्दर गिना जाता था। राह में जहाँ-तहाँ सफेद खडिया में 'शुगरकेन लिखा रहता था जिससे मुझे अकेले जाने में बड़ी भिन्न मालूम देती थी। पर लटकों के मन के विद्रोह ने

पाण्डुलिपि कई सालों तक खोई रही, जिगन्ना उद्धार मेरे बसुश्री रामचन्द्रजी टउन की गहायता से हुआ। मध्य-योजना तथा भाव-व्यञ्जना की दृष्टि से मेरा अनुवाद हिन्दी में सम्भवतः सर्वाधिक मधुर है। मैंने उनमें यथाशक्ति तथा यथामुभव उमर के ही विचारों को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। मुझे उमर में प्रायः विचारों की प्रधानता तथा कविता का अभाव मिला। उसे मुझे यत्र-तत्र अपनी कल्पना में मूण्डन कर प्रस्तुत करना पड़ा। उमर की मौलिक रचनाओं से परिचित होने के कारण मैं यह मयना हूँ कि फिडजरैल्ड ने भी अपने अंग्रेजी अनुवाद को अपनी ही कविद्व-शक्ति में मामूल बनाया है।

स्वराज्य मिलने के बाद मन् '४८ में मैंने अपनी लोकायन की योजना को, जिसकी पहली रूपरेखा मन् '४२ में बनी थी, फिर से मूर्त रूप देने का एक बार प्रयत्न किया, पर अनेक कारणों से वह आगे नहीं बढ़ सकी। उपयुक्त आर्थिक गहायता के अभाव के कारण ही उसे साहित्यिक दृष्टि तथा प्रतिस्पर्धा के कारण गण्यमान्य साहित्यिकों का यत्नीवाद तथा नवीन साहित्यिकों का महयोग नहीं मिल सका। बहुत सम्भव है लोकायन के अपने स्वयं को में अभिव्यक्ति में नागर्य कर सकूँ। उच्चिण भाग्य में चार-पाँच साल के बाद लौटने पर मुझे प्रयाग का साहित्यिक वातावरण क्षुब्ध तथा बरका तथा मिला। तब साहित्यिक मुद्रयिकों चल्न लेने लगी थी। विभिन्न विचारों पर मनों के साहित्यिकों में परस्पर के महयोग तथा सम्भावना का अभाव था। धीरे-धीरे पापम के सम्बन्धों तथा मनों-साहित्य में विरोध का रूप आरम्भ पर प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद के विचारों को साहित्यिक प्रतिस्पर्धा का क्षेत्र बना दिया था और विभिन्न मनों के सम्बन्ध पर संवेदि-

युगौन आध्यात्मिक निष्क्रियता का भी विरोध किया है। 'निन्दन' की भूमिका में मैंने अपने काव्य-रसों के सम्बन्ध में सम्पूर्ण रूप में विचार किया है। 'अनिमा' में मेरी मनु '५४' की रचनाएँ मूढहीन हैं जिनमें 'जन्मदिवन', 'माति और ज्ञानि', 'यह धरती मिलना देती है', 'सोने' तथा 'हर्मनन' शीर्षक मेरी लघु कवि-निन्दन-प्रधान रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

मनु '५४' के बाद भाई की आत्मिक मृत्यु हो जाने के कारण मेरा मन प्रायः एक वर्ष तक बड़ा दुःख रहा। पारिवारिक दायित्व बट जाने के अनिश्चित भाई के इस प्रकार के अपत्यामिष विद्योह में मेरा मन अनात्म तथा दुःखी रहा। अब तेज मेरे प्रयोज्य बड़े भाई हैं जो प्रायः मत्स्याप्रस्त रहते हैं। सखि में सर्व परिवार के लोगों ने पृथक् ही रहा है, पर पारिवारिकता के मूल मेरे भीतर विद्यमान है और मैंने अपने सम्बन्ध स्थापित करने पर भी बल गरीब रहने दिया है। मनु '५५' के अन्त में 'सखि' शीर्षक मेरी लघु रचनाओं या मनु प्रकाशित हुआ है जिन्हें 'आत्मिका' शीर्षक एक लम्बी रचना में मैंने अपने जीवन का सुख की प्रमुख घटनाओं के सम्बन्ध स्थापित किया है। इसमें मैंने अपनी वर्तमान मन स्थिति के बारे में एक स्वर रचा है।

मनु प्रथम का अन्त सर्वोत्तम सौन्दर्य प्राप्त कर, प्रकृत शोभा,
 जीवन स्थलों में शोभायुक्त मनु के स्थिति स्वरूप का मनु !
 जब जीवन से मेरा सुख हट, प्रकृत में मनु प्रकृत स्वरूप,
 इन्द्रप्रिय मनु प्रकृत स्वरूप का मनु में मनु ! मनु,
 'सखि' में प्रकृतिका के स्थिति मेरी 'प्रकृतिका',
 'अनिमा', 'अनिमा', 'अनिमा', 'अनिमा' मनु के स्थिति मनु
 प्रकृत मनु रचनाएँ हैं जिनमें मैंने अपने जीवन के स्थिति
 तथा मनुओं को मनु में है।

विकास-सूत्र और अंतःसंघर्ष

सन् १९१९ से १९३० तक

वनारस का नौ-दम महानो का प्रवास मेरे लिए आया-
तीन दप से 'लाभदायक' सिद्ध हुआ। समतल भूमि में पहुँच
जाने पर मकानों की चहारदीवारी से घिरा हुआ बाहर का
क्षितिज तो सीमित हो गया, सिर पर धुँधले-नीले आकाश
का थका-भर रह गया, और पहँडों की चोटियों पर
से देखने वाला सुदूर तक फैला गहरा हरा प्रमार दृष्टि से
शोभल होगया, किन्तु बड़े नगर के जीवन तथाजन-समागम
की गरिमा के कारण मेरा मन क्षितिज प्रवृद्ध तथा विकसित
हो सका। मेरे बहनोई, श्री शुक्रदेवजी पाडे, जिनके साथ
भेलूपुरा में हम दोनों भाइयों के रहने की व्यवस्था हुई थी,
सोम्य, अव्ययनशील प्रकृति के सहृदय व्यक्ति थे, और
हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक का कार्य करते थे। घर
का ज्ञानावरण शान्त, सुवद तथा पठन-पाठन के अनुकूल

मे अनेक प्रकार की स्वस्थ-अस्वस्थ प्रवृत्तियों का उदय हुआ है। यह हमारे आत्म-निरीक्षण-मगीकरण का पहरा ही चरण है। अभी हमारी सृजन-चेतना अपने दीर्घ-कालीन आत्म-दमन की कुण्डियों, पीडाओं तथा दृष्टों से मुक्त नहीं हुई है, वह उन्ही की वारणी देकर मुक्ति का अनुभव कर रही है। आज हमारी नयी पीड़ी परस्पर की स्पर्धाओं से पीड़ित हो हमसे पर अवाचित प्रकार तथा अनर्गल आक्षेप करने की स्वच्छन्दता प्राप्त कर अपने में माहम तथा बल का अनुभव कर रही है। जीवन की परिस्थितियों के अनुचित तथा मानविक बानापरण के स्वच्छ, रिक्त तथा शान्त होने पर हम पर-दूरे की कृतियों का मूल्यांकन अधिक निपटवता से माप, पूर्वार्ध तथा दलबन्धियों से मुक्त होकर कर नकले और आने वाले युग की सृजन-प्रेरणा यन्त्र उपयोगी तथा न्यायी कृतिस्व की जन्मदानी बन नसेगी, उन्ही सुभ माहलों के माप उन सम्मरणों को सम्पाप्त करता है।



था। मुझे दुमजिले में एक छोटा-सा एकल कमरा—छोटा कमरा मुझे बहुत प्रिय था—और अलग में एक छोटी-सी छत मिल गई थी। एक ओर ऊपर की छत को जाने को सीढ़ी थी, जिन पर चढ़कर मुझे जहाँ तक दृष्टि जाती, चारों ओर मकान की छतें-ही-छतें तजर आती थीं। बगरे की गिडगी ने भी केवल आनपान के घर और मंगरी



गलियाँ ही दिखाई पड़ती थी—बनारस की गलियाँ, जिनका परिचय मुझे पीछे मिला। कभी-कभी दूर से आती हुई पपीहे की प्यासी पुकार अवश्य ध्यान आकर्षित करती थी। इस प्रकार बाहरी दृश्यों की रमणीयता के अभाव में मन को प्रायः अध्ययन ही में अधिक सुख मिलता था। मेरे वहनोई मेरी साहित्यिक रुचि से परिचित थे। वह विश्वविद्यालय के पुस्तकालय अथवा अपने प्राध्यापक-मित्रों और विशेषकर प्रो० गोपात्रि की लाइब्रेरी से मेरे पढ़ने के लिए श्रीमती नायडू तथा रवीन्द्रनाथ आदि की पुस्तकें ले आते थे। मिसेज नायडू का शब्द-संगीत मुझे तब बहुत अच्छा लगता था। मैं 'गेली ओ गेली वी ग्लाइड ऐज वी सिंग, वी वियर हर एलॉग लाइक ए पल्ले ग्रॉन ए स्ट्रिंग' आदि, 'पैलेक्विन वेयरर्स' नामक उनकी रचना की पक्तियाँ प्रायः गुनगुनाया करता था। उनकी अनेक प्रकृति-सौन्दर्य तथा प्रेम-सम्बन्धी कविताएँ तब मुझे कठाय थीं। रवीन्द्रनाथ की गीताजलि, गार्डनर, किंग आफ टाकें चेंबर, पोन्ट आफिम, सेक्रिफाउम एण्ड अदर प्लेज आदि अनेक पुस्तकें तब मेरे अग्रजों में गनूदित पड़े थीं। उनकी कहानियाँ तथा उपन्यासों के हिन्दी अनुवाद मैं अल्मोडे ही में पढ़ चुका था। हिन्दी कवियों में मुझे बनारस में मुख्यतः रीतिशास्त्री कवियों को पढ़ने का अच्छा अवसर मिला। देव, केशव, मतिराम, पद्माकर, मेनापति, बिहारी आदि की पद-रचनाओं को मैंने अत्यन्त तन्तीन होकर पढ़ा है। अल्मोडे में मेरा अध्ययन विशेषकर द्विवेदीकालीन कवियों तक ही सीमित था, जिनकी तुलना में रीतिशास्त्री के लघु-पद-रचना-मायुर्ध्व ने मेरी काव्यभाषा-सम्बन्धी धारणा को अत्यन्त प्रभावित किया। रीतिशास्त्री की कविता के सम्बन्ध में मैंने अपने मन की प्रतिक्रिया 'पल्लव' की भूमिका में

रहा। तब मेरा वगला का ज्ञान नहीं के बराबर था। मि० मुखर्जी कवि ठाकुर की रचनाओं का लययुक्त पाठ-भर सुनाते थे और कभी अनुरोध करने पर किसी पद का अंग्रेजी में अनुवाद कर देते थे। उन्हींसे मैं कवीन्द्र की पद-योजना तथा भाव-गरिमा को हृदयगम करने का प्रयत्न करता था। मुझे उनसे उर्वशी, कच और देवयानी, पुरातन भृत्य, हृदय यमुना आदि रचनाओं को सुनने की स्पष्ट याद है। तब मुझे विद्यापति और चंडीदाम के वगला पदों का भी एक संग्रह मिल गया था, जिसका मैं रस लेने का प्रयास करता था। 'वीणा' की कुछ रचनाओं में सभवतः रवींद्र के भावलोक की अस्पष्ट छाया हो। एक-आध रचना, जैसे 'मम जीवन की प्रमुदित प्रातः सुन्दरि तव आतोकित कर' में रवींद्रनाथ के 'अंतर मम विकसित कर अंतरतर हे' की छाप मिलती है। 'अग्नि' की शैली में सभवतः हिन्दी रीति-काव्य तथा संस्कृत कवियों की शब्द-योजना का आभास हो। संस्कृत का थोड़ा-बहुत ज्ञान मुझे पहले से ही था। बनारस में मुझे कालिदाम, भवभूति आदि के प्रेमी अनेक युवक छात्रों के साथ संस्कृत-कवियों की वार्ता का समास्वादन करने का संयोग प्रचुर मात्रा में मिला। 'ऋतुसंहार' तथा 'मेघदूत' मुझे प्रायः कठम्य थे। कालिदाम का 'शृङ्गारतिलक' तथा 'सुभाषित रत्न भाटागार' के भी कतिपय पद मुझे प्रिय थे। पर अंत में निष्पक्ष दृष्टि में कह सकता हूँ कि मेरे उपर्युक्त अध्ययन के प्रभाव के अतिरिक्त भी वीणा, अग्नि आदि रचनाओं में और भी बहुत-कुछ मिलता है, और पर्याप्त मात्रा में मिलता है, जो केवल मेरा अपना है। जिसे देखकर यह कहना अनुचित न होगा कि काव्य-ज्ञान के लिए सभवतः मुझमें तेजगिरी संस्कार रहे हैं।

बनारस में, संयोगवश, मुझे बियाँनाफिरल नोगास्टी में स्वीडनाथ के दुर्लभ दर्शनो का भी संयोग प्राप्त हुआ था और कवि के मधुर कठ में छात्रों की नभामे 'धरदोलनव' नामक नाटक भी मुनने का मिला था। स्वीडनाथ के व्यक्तित्व का प्रभाव तो मन में पड़ा ही, काने चोंगे में उनकी लम्बी गौरवर्ण आकृति, बड़ी-बड़ी आंखें, मुनहली कमानी का चञ्चा, मुन्दर लम्बी दाढ़ी, गिर पर ऊँची मखमली टोपी, मध-मुछ बटे प्रारूपक तथा अद्भुत प्रतीत हुए। पर इनमें भी अधिक प्रभाव मेरे मन में उन भाषणों का पड़ा, जो उम्र अक्कर पर उनकी प्रतिभा, प्रसिद्धि तथा विद्वत्ता के बाने में उधर-उधर मुनने को मिनें थे। तब उनका महान् व्यक्त हो सकता है और उगे विश्व में उनका बड़ा सम्मान मिल सकता है, उन बातों ने कवि-रस के प्रति मन में अधिक महत् धारणा एवं गभीर आस्था पैदा हुई। उनकी पुस्तकों में भी यद्यत् तब उनकी गीति तथा व्यक्तित्व की गरिमा ने मेरे भीतर रचिता के प्रति अनुगत के मूलों को नीचकर हट बनाया।

यह विशिष्ट ज्ञान है कि अपने दनात्म के प्रदान-दान में मैंने प्रसादजी की चर्चा नहीं मुनी, सम्भवत तब दूर प्रसिद्ध नहीं हुए थे। उन दिनों 'कदम तुमुस' के नाम से श्री गोविन्दचन्द्रभट्ट और उनके विनी मित की रचनाओं का सम्मिलित सङ्घ प्रकाशित हुआ था। श्री पत् तब तिरू तानिज में पढ़ते थे। मैं उनके छात्रागम में दो-एक बार उनके मितने गया था। तिरू विस्मय-साधक में सनातना मालदीपजी की छो-मे तब तक सखर प्रसिद्धिगत भी हुई थी, जिन्हें ताड़ी के पत्त सभी नृत्यो-नृतियों के प्रतिनिधि कलि-राजों ने भाग दिया था। मुझे बाद में कि एक बने में तब के कई कवियों में उम्र और मुनिरा

लगी थी, जैसा परीक्षा के पवसर पर होता है। उसको पर दो-दो कागज के पन्ने तथा एक-एक पेन्सिल रखी थी। हम लोगो के अपने-अपने स्थान पर बैठ जाने पर प्रतियोगिता के लिए जो विषय काजी तर्ती पर लिग दिया गया था वह था—‘हिन्दू विश्वविद्यालय’। ऐसे गद्यात्मक विषय मे शायद ही कभी किगी उदीयमान कवि को माथापच्ची करनी पडी हो। पर प्रतियोगिता का उत्साह और किशोर मन की स्पर्धा। सम्भवत दो घटे का समय और कम-से-कम बीग पविनयाँ लिगने का आदेश था। उस प्रतियोगिता के फलस्वरूप उस वर्ष ‘जयनारायन हाईस्कूल’ मे ‘चाँदी का कप’ गया था, जिसके कारण मुझे अपने सहपाठियो, स्कूल के छात्रो तथा अध्यापकवर्ग से पर्याप्त स्नेह-स्वीकृति मिली थी।

बनारस से द्वितीय श्रेणी मे हाईस्कूल की परीक्षा मे हिन्दी मे विशेष योग्यता के साथ उत्तीर्ण होने पर मेने सन् १९१९ की जुलाई मे अपने भाई के साथ म्योर कालेज मे भर्ती होने के लिए प्रयाग की माहित्य उर्वर, शान्त, मस्कृत भूमि मे प्रवेश किया जिसकी स्नेहपूर्ण अचल-छाया मे मेरे किशोर-कवि को मानसिक पोषण तथा आत्म-विशवास का तारुण्य प्राप्त हुआ। कौमानी के बाद प्रयाग ही मुझे सबसे प्रिय रहा है और वह मेरा घर या गृह-नगर ही बन गया है। प्रयाग मे मुझे आत्म-संस्कार तथा विकास के लिए उप-युक्त वातावरण तथा आवश्यक अवकाश मिल सका। जुलाई के मध्य मे कालेज खुलने पर मैं प्रयाग पहुँचा था। नवम्बर के महीने मे समावर्तन समारोह के अवसर पर हिन्दू बोर्डिंग हाउस मे सायकाल एक कवि-सम्मेलन का आयोजन था, जिसका संचालन प्रो० शिवाधार पाडेयजी ने किया था जो कालेज मे अग्रेजी के प्राध्यापक

थे। कवि-सम्मेलन का विषय था 'स्वप्न'। कवि-सोपिठियां तब नमस्वापूर्ति की परम्परा से मुक्त हो रही थी और उनके लिए विषय निर्धारित करने की प्रथा बन गई थी। वह पहला ही कवि-सम्मेलन था जिनमें मुझे भाग लेने का अवसर मिला था। मैं तब अत्यन्त सहोत्सुह था। 'स्वप्न' पर लिखित मेरी कविता का श्रोताओं पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा था, जिनमें प्रमत्त होकर दूसरे दिन उदार-हृदय प्रो० पांडेय ने मुझे गोस्वामिपियर के सम्पूर्ण नाटकों का एक मुद्रण सचिव सूत्रधान मस्करण अफसी और मे उपहार-स्वरूप दिया था, और उनके पहले पृष्ठ पर मुझे श्रेष्ठी साहित्य के प्रति अनुराग रखने का आदेश दिया था। पांडेयजी के उपहार ने, जो मेरे लिए पुरस्काररूप था, मुझे बड़ा प्रोत्साहन मिला था। मेरे कम्पे बानों के कारण छात्रावास तथा कलेज के बच्चों का ध्यान मेरी ओर जाता ही था, उन कवि-सम्मेलन में मेरी रचना की सफलता के बाद मुझे प्रयाग में कवि के रूप में स्वीकृति मिल गई। मेरी 'स्वप्न' शीर्षक रचना अगले महीने 'सम्बन्धी' में प्रकाशित हो गई जो तब दिल्ली की प्रमुख पत्रिका समझी जाती थी। तब उतरी सन्तान समूह होम्बल में बसे थे और मुझे बुलावा करने थे। वह रचना अब मेरे 'पञ्चदश नामक शब्द-संग्रह' में है, जो १९०६ के आरम्भ में उत्तर प्रदेश में प्रकाशित हुआ था। उसी वर्ष १९०७ में मेरी 'उच्छ्वास' नाम की पत्रिका मुम्बई-दर में शुरुआत की गयी थी। उसी वर्ष के कवि-सम्मेलन में लिखित सम्बन्धी पत्र 'मेरी कविताओं' ने मिला था, मैंने 'प्रयाग शीर्षक' अफसी रचना की थी। वह सम्बन्धी भी लिखितों के संशोधन में बहान मुझे मे रचना का और एक बच्चे के परिचित सार्वजनिकों की भी पणाल रचना में उल्लिखित

गी। मेरा कविता-पाठ गुनार हरिणी की गपनी महारगता के कारण उतने पगन्न हण कि उन्नेने नीन ही म उठकर प्रपने गने से तग्या फूरो का गनरा उवारकर मेरे गने म उत दिया। शोनागो ने करतत-ध्वनि से उगाता गम िन कर मुझे उत्गाहित किया था। उन दिनो की ऐगी अनेक घटनाण मन म प्रपनी कतियो के प्रति आत्म विश्वासम जगा-कर मुझे प्रागा प्रोर वत पदान करती रही। मुझम यह भावना श्रीर भी दृढ होने लगी कि मुझे कवि-जीवन के लिए गम्भीर रूप से प्रपना निर्माण करना ह। उन दिना लेखन या सजन-तर्म साहित्य-सेवा तथा मातृभाषा की सेवा समझा जाता था, उसके आर्थिक पक्ष का तत्र प्रश्न ही नहीं था। स्वतन्त्रता-आन्दोलन के समान ही राष्ट्रभाषा या मातृभाषा का प्रेम भी दिन-प्रतिदिन महत्त्व प्राप्त करना जा रहा था।

हाईस्कूल तक मेरा पाठ्य-विषय विज्ञान रहा, सस्कृत की ओर अभिरुचि होने के कारण कालेज में मने सस्कृत लेना अधिक हितकर समझा। प्रत प्रयाग आने के बाद मेरे सस्कृत-साहित्य के ज्ञान में प्रधिक अभिवृद्धि हुई। कालिदास की कृतियों का मुझ पर विशेष रूप से प्रभाव पडा। कालिदास की उपमाओं में तो एक विशिष्टता तथा पूर्णता मिली ही, उगकी सौन्दर्य-दृष्टि ने मुझे विशेष रूप से आकृष्ट किया। कालिदास के सौन्दर्य-बोध की चिर-नवीनता को मैं अपनी कल्पना का अग बनाने के लिए लालायित हो उठा। अग्रेजी साहित्य के अध्ययन के प्रति प्रारम्भ में मुझे प्रो० शिवाधार पाडेयजी से बडी सहायता मिली, जिनके प्रति में उपकृत हूँ। उन्नीसवी शती के कवियों में कीट्स, शेली, वर्ड्सवर्थ तथा टेनिसन ने मुझे गम्भीर रूप से आकृष्ट किया। कीट्स के शिल्प-वैचित्र्य,

तो भ द्विवेदी-युग की कविता का विचार नहीं तो विचार मानता गया है। तब मुझे कला-गिरण-गमनकी प्रेरणा मुग्यत श्रमेजी कवियों में प्रोर भावना-गमनकी उन्नेप प्रारम्भ में रवीन्द्रनाथ तथा शेती में मिला। द्विवेदी-युग की कविता में, रूप-गोष्ठव तथा भाव-ऐश्वर्य दोनों ही दृष्टियों में, मुझे गमनोप रहा है। द्विवेदी-युग की काव्य-शैली का परिष्कार छायावाद के जन्म के बाद हुआ। छायावाद का विरोध द्विवेदी-युग के आलोचकों ने प्रारम्भ में निरमं रूप में किया, स्वयं द्विवेदीजी भी उम विरोध को सुलगाते रहे। ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली का प्रश्न भी तब मरा नहीं था। 'पल्लव' तथा 'वीणा' की भूमिकाओं में उस युग के वातावरण का आभास मिलता है। 'पल्लव' की भूमिका में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिकोत्सव के अवसर पर सभापति के पद से दिए हुए श्री रत्नाकरजी के भाषण के उत्तर में लिखी थी—विशेषकर भूमिका का पूर्वार्ध। वीणा की अप्रकाशित भूमिका, जो 'गद्य पथ' में मिलती है, सुकवि किकरके नाम से सरस्वती में छायावाद पर द्विवेदीजी द्वारा किए गए व्यंग्य के प्रत्युत्तर में। मन् '२२ में प्रकाशित मेरी प्रथम पुस्तिका 'उच्छ्वाम' को आलोचकों के कटु प्रहार सहने पडे थे। उसे किमी ने 'प्रेटी नानसेम' बताया तो फिसी ने 'वीसवी सदी का महाकाव्य'। वयोवृद्ध कवियों में श्रीधर पाठकजी से मुझे निरन्तर प्रोत्साहन मिलता रहा। वह मुझे बार-बार 'यू आर द फ्यूचर पोएट ऑफ इंडिया' कहा करते थे। उनके ऐसे महत् स्नेह तथा आश्वा-मन-भरे उदार-हृदय वाक्यों से मुझे आत्म-बल मिला है। दूसरा प्रोत्साहन मुझे प्रारम्भ में प्रो० पाडेयजी से मिला जिसकी चर्चा ऊपर कर चुका है।

'पल्लव' काल की रचनाओं तक मेरी अन्तर्दृष्टि काव्य-

पढना - भाई के माता हो गया। गाँजी के दर्शन करने की इच्छा फिरे न होगी। पर परीक्षा की व्यस्तता के कारण बाहर से मेरा मन तटस्थ था।

मेरे का समय था। पुराने गानन्द भवन—ग्रव स्वराज्य भवन—मे स्कूल-कालेज के छात्रों की अपार भीड़ थी। भाई ने मुझे ते जाकर पहली पक्ति में गटा कर दिया। उबर महात्माजी मंच पर उपस्थित हुए और 'महात्मा गाँवी की जय' के तुमुल नाद में वातावरण गुञ्जगित हो उठा। थोड़े-मे चुने हुए सयत शब्दों में एक मुथरे-जान्त व्यक्तित्व ने छात्रों को सम्बोधन करते हुए देश की पराधीनता तथा दुखस्था का चित्र खीचकर, प्रसहयोग आन्दोलन का महत्त्व समझाया और छात्रों से सरकारी शिक्षा-सस्थाओं में पढना छोडने तथा देशसेवा के कार्य में हाथ वँटाने का आग्रह किया। इस स्वल्प भाषण के उपरात उस खादी की शुभ्र मूर्ति ने आदेश दिया कि जो लडके स्कूल-कालेज छोडने को तैयार हो वे हाथ उठाकर अपनी सम्मति प्रकट करे। प्राय पचास-साठ हाथ सहसा तारुण्य के उत्साह के अकुरो की तरह हवा में उठ गए। मेरे भाई मेरे पीछे खडे थे। उन्होंने कुहनी पकडकर मेरा हाथ भी ऊपर कर दिया। शेष लडकों के चले जाने पर मैंने देखा कि भाई हम लोगो के साथ, जिन्हे वही रुकने का आदेश मिला था, नहीं है। होस्टल पहुँचने पर उन्होंने मेरी पीठ थपथपाते हुए कहा, "देखो, अगर हम दोनो में एक भी पढना न छोडता तो लोग क्या कहते? और अगर दोनो ही छोड देते तो घर वाले अर्थात् पिताजी और बडे भाई क्या कहते? बात समाप्त हो गई। कुछ दिनो बाद हममें से अनेक छात्रों ने किशोर उत्साह के उवाल के घट जाने पर फिर से कालेज जाना शुरू कर दिया, पर मुझमें

ऐसा न हो सका। लम्बे बालों के कारण और कुछ कवि होने के कारण भी इन दो ही वर्षों में अनेक लोग मुझे जानने लगे थे। छात्रों के अतिरिक्त और भी कई लोगों ने मुझे कालेज में अमहयोग करने के लिए बधाईयाँ दी, जिनमें पटने का मेरा रहा-नहा उल्लाह भी जाता रहा। राजनीति के लिए मेरी कभी भी अभिरुचि नहीं रही। कालेज के बन्धन में मुक्त हो जाने पर भी मैंने अपना समय पूर्व-वत् अध्ययन-मनन में ही व्यतीत किया।

उन छोटी-सी घटना ने मेरे जीवन की धारा को जैसे एकदम ही मोड़ दिया, और मुझे स्वतन्त्र रूप में अध्ययन, चिन्तन तथा लेखन करने के अतिरिक्त और किसी कार्य के योग्य नहीं रखा। यह बड़ी विचित्र बात है कि परिवार के लोगों से—विशेषकर अपने भाइयों से—मुझे अपने जीवन में किसी प्रकार की भी सहायता, सहायुक्ति या प्रोत्साहन नहीं मिला। हाँ, उन्होंने कालेज छोड़ने की घटना के अतिरिक्त और मेरा कभी किसी बात में विरोध नहीं किया। उनका मनोभाव उनका निष्पन्न तथा समताहीन रहा कि उन्होंने दूर ने भी कभी मेरी देख-रेख की हो या मेरे विद्यालय पर प्रच्छन्न दृष्टि ही रखी हो, ऐसा मुझे नहीं प्रतीत हुआ। परन्तु शेर ने तदन्यता के उन चतुर्त् निर्मम शून्य में मुझे अपने जीवन तथा कवि बनने की सहाय्याराक्षा की पूर्ति के लिए स्वयं ही कठिन साधन खोजना पड़ा। मैंने देश के आन्दोलन में बाहर से तो कभी भाग नहीं लिया और न भाई की तरह मैंने कभी आगजान ही भेजा, परन्तु हमारे राष्ट्रीय जागरण के आन्दोलन का जो भीतरी पक्ष रहा है उसमें मैं निरन्तर दूरगता रहा हूँ और अपनी समर्थता के अत्यन्त मैंने अपना योग भी चुकाया है। अन्ततः छोड़ने के लिए मुझे बाहर से मदद लेनी ही बाध्य किया तो पर

राष्ट्रीय जागरण का पग तनने के लिए मेरा मन भीतर में मदेव उल्लुफ रहता था। भाई ने बाहर की राग-भर हटा दी, भीतर की मोर्चे पाग जग उठी। गगने व्यक्तिगत जीवन-सघर्ष के वारे में गहा न तिगकर ग गगने मानसिक, बौद्धिक तथा चेतनात्मक हन्द का पाभाग संक्षेप में देने का प्रयत्न करूँगा।

एकतीस वर्ष की अवस्था में कालेज छोड़ने के साथ ही मैंने, साधारण अर्थ में जिसे जीवन कहते हैं, उसके द्वार अपने लिए मद्रा के लिए बन्द कर, अपने को ममार में बड़ा ही अकेला पाया। मैंने अपनी कई रचनाओं में भी इस ओर संकेत किया है

‘वय सधि की ओट खडा था सघर्षों का पर्वत यौवन।’ अथवा
 एकाकीपन का अधकार दु सह है इसका मूक भार
 इसके विपाद का रे न पार।’ इत्यादि।

अकेलापन—भीतर और बाहर केवल अकेलापन, इस भावना ने मुझे बड़े ही गहरे वेग से आक्रान्त किया। बाहर की जीवन-समस्याओं का तो किसी-न-किसी प्रकार मुझे सामना करना ही पडा, पर सबसे बड़ा सामना मुझे अपना ही, अपने अपरिचित, अशिक्षित मन का ही करना पडा। अपने को अपने इतने अधिक दुर्वोध नैकट्य में पाकर मेरा चित्त घबडाकर सन्नस्त हो उठा। इस शून्य, अगम्य एकाकी आत्म-साक्षात्कार के दु सह दवाव के कारण ही मैं अपने ओर अपने चारों ओर की परिस्थितियों के जगत् के वारे में सोचने-समझने को बाध्य हो उठा। कालेज की शिक्षा से भीतर के नयन खुलते हैं, यह मैं नहीं देखता। पर उसमें, एक ऐसी वयस में, जबकि मन में जिज्ञासा का उदय होने लगता है, एक नव वयस्क, सबके साथ निर्धारित पथ पर चलने में, अपने को भूला अवश्य रहता है। अपने

अन्त-मपर्यं के बारे में यहाँ अधिक न लिखकर केवल
 ज्ञान ही रहेगा कि अनेकानेक प्रकार की धार्मिक, नैतिक,
 दार्शनिक, सामाजिक जिज्ञानाएँ, प्रारम्भिकों का ही धारण
 कर, मेरे मन को तीव्र तीरो की तरह वेधा करती और
 अपने हृदय के अज्ञान घावों में मग्ध लगाने के अनिष्ट
 में मैं अनेक प्रकार के गन्धों—उपनिषद् गीता, रामायण,
 रामदृष्ट्य वचनामृत, विवेकानन्द, रामतीर्थ, पातञ्जलि, योग-
 वाशिष्ठ्य, रत्निक, टानस्टाय, कार्कीट, योगे, समस्त
 आदि अनेक विचारधों का सम्मिश्रण, ध्यानपूर्वक पारायण
 करने लगा। अपने जो स्वयं सिद्धि करना कितना कठिन
 तथा कठोर कार्य है, उनका मुझे धोज-बहुत अनुभव है।
 गीता में मैं छुटपन में ही परिचित था। मेरे 'हार' नामक
 उपन्यास में गीता-दर्शन की चर्चा यद-यद मिलती है।
 तुलसी रामायण का स्वरूप मुझे नीरस, नीति-विषय
 (अथ मध्ययुगीन) लगता था; बनारस जयनारायण हाट
 स्थान में मेरे हृदय में दारुण जंगे महत् रूप के लिए
 अनुभव के बीज उत्पन्न हो गए थे। मुझे स्मरण है जब
 दर्शन-ग्रन्थों, टानस्टाय की पाप-पुत्र की धारणाओं, तथा
 मत्स्य-भाष्य, भर्तृहरि आदि के जीवन-निर्देश-भरं निर्देश
 प्रभावों में मेरा हृदय विमग्नितारण्य ही तरह उमर
 कठोर सिद्धि तथा सम्बन्ध हो गया था और मुझे उद्वि-
 रोध रहने लगा था, तब दारुण ही मत्स्य, प्रेमसिद्धि,
 जीवन-मधुर अन्तर्दृष्टि-भरी सतियों में मुझे बड़ी सारगता
 तथा शान्ति मिलती थी और प्राणों की निगरियों में पवित्र
 सम्मिश्रण प्रयत्न होने लगता था। दारुण मेरी दृष्टि
 में एक सम्पूर्ण रूप है। ईश्वर की दृष्टि एक साक्षात्कार
 सवि-दृष्टि है जो बुद्धि को विना किसी साक्षात्कार-
 सम्बन्ध के नकार में जाने हृदय को अन्तर्-मन के

में महत्कार जान्ति तथा उज्ज्वल तपि मे भर देती है। एक
 ओर काव्य-प्रगमन—पल्लव की गभी नगी-नगी रचनाएँ
 प्रायः उगी गमग तिगी गईं—गी-गीर दुगरी गीर यह शुक्त
 अन्तर-मन्यन मेरे जीवन में सन् १९२६ तक निरन्तर
 चलता रहा। सन् '२६ में एक दिन अपने प्राप ही प्रनेक
 दिनो के विचार-सर्घर्ष के बाद, जमे वह निर्मम हिम-जिला
 पिघलकर विलीन हो गई, और अपने नवीन सूक्ष्म अनुभवो
 से एक ओर जहा मुझे जान्ति, प्रकाश तथा आनन्द मिला
 वहां दूसरी ओर एक दूसरे ही प्रकार के सर्घर्ष ने मेरे भीतर
 जन्म ले लिया। अब मुझे अपनी ही दृष्टि मिल गई थी
 जिसके प्रकाश में मैं अपने को, अन्य विचारको को तथा
 चतुर्दिक् के सामाजिक जीवन को समझने का अश्रान्त प्रयत्न
 करने लगा। अनेक सकट-क्षण भी इसके बाद मेरे जीवन
 में आए, पर अपने अदम्य विश्वास की सहायता से मैं उन्हें
 पार कर सका। अपने बारे में एक बात यहाँ और बता दूँ
 कि मेरा कैशोर—ससार के प्रति अज्ञानता तथा अपने ही
 में डूबकर सन्तुष्ट रहने की वृत्ति—मेरी भावना के जीवन
 में प्रायः तीस-पैंतीस वर्ष की दीर्घ अवस्था तक जीवित रहा
 और उसने, जब तक मेरा विचारो का मन सशक्त नहीं हो
 गया, मुझे अनेक प्रकार के बाहरी सकटो के पक में गिरने से
 बचाया। 'पल्लव' के प्रकाशन के बाद सन् '२६ से '३०
 तक, और उसके बाद भी, मुझे इतने सूक्ष्म रहस्यात्मक
 अनुभव होने लगे कि मुझे लिखना प्रायः एक प्रकार से
 स्थगित करना पडा और मैं पुनः शान्त, स्थिर मानसिक
 स्थिति प्राप्त करने की प्रतीक्षा करने लगा जो अनुभवात्मक
 से अधिक सृजनशील हो। इसी बीच हमारी पारिवारिक
 स्थिति विशेष रूप से डाँवाडोल हो उठी और मेरे पिताजी
 तथा मँझले भाई का भी देहान्त हो गया। उमरखेयाम की





स्वाइयो तथा अनेक विद्वन्नी क्लान्तियो ग अनुदाद मेने
 उण्डियन प्रेन के लिए इन्ही दिनों दिया था और 'वीणा'
 तथा 'ग्रन्थि' नामक मेरे ज्ञान-ग्रन्थों का प्रकाशन भी उनी
 काल में हुआ था। अपने दाहरी-भीतरी ग्टों गपों के
 कारण मर् १९२६ में मेरा धारीनिक स्वास्थ बूट गया
 और मुझे अनुभव हुआ कि जैसे मैं अपने मन के दोष में
 गिर पडा हूँ। डॉक्टर के पनामों ने अनुमान मुझे एज तक
 तक विश्राम देना पडा। किन्तु उन समय भी मेरी अन्त-
 गतिन अथवा आस्था अक्षुण्ण बनी रही और जो समन्याएँ
 तब मेरे मन में चल रही थी उन्हें मैं उन अज्ञान-काल
 में एकाचित्त में नुलभा नता। नक्षत्र में मर् २१ में '३१'
 तक मेरा आत्म-विद्येण का युग रहा है। मुझे नद प्रकाश
 की विचारधाराएँ तथा जीवन-दर्शन जितने सम्पर्क में मैं
 था नता, अपर्याप्त तथा अपूर्ण प्रतीत हुए और हृदय, भीतर-
 ही-भीतर, एक अधिक सर्वांगीण दर्शन अथवा सैतन्य की
 उपलब्धि की आशा में यानन्दित जागृत तथा अन्तः-
 गम्य रहने लगा। उनी युग के सम्बन्ध में मैंने 'आत्मिन्वा'
 नामक अपनी सम्मरस्यान्तर रचना में संकेत किया है :

यह पहिला ही अतहयोग था, बापू के शब्दों में प्रेरित
 विदा हाथ-सीदन को दे मैं, करने लगा हृदय को लिहित ।
 बाहर का नवयुग संघर्षर, भीतर छंद मत्त का मयन,
 पथ-दर्शक का शेषन ईश्वर पद नर शक्त का अतोत्तम ।
 मातंग तब में ऊपर-नीचे, अन्तर तब सर्गर, अग्रित,
 तन-वर्षय, सागर प्रकाश का मयित होने शिखरों में मन ।
 कबड सेना भायी नयमुग, तब धू मन को हर गत-विश्व
 अथ, सगट घाता, गुण, गुण में महुत का प्रमशित अनागत ।
 मुँह तब तब में भर जाता मन अथैतत अथैतों में शब्द,
 बुचन मृग्य भावों को देना, अथैतों का गुण विगत पद ।

अविदित भय मे कौपता अतर, स्वर्गिक सकेतो से गोपित,
स्वर्ग-नरक मानुष तन मन मे, पलय मचाते विश्व त्रिजग हित ।
दुखती घायल मन जिराएँ, जग के प्राघातो से निष्ठुर,
स्वप्नो के स्वद्वंद उतरते, मुग त्रिस्मित, प्रादोलित कर उर !

इत्यादि

हो जाता, उगतिण् मे पाय नरागरे मे टहनते हण, गीर कभी पद-नृत्य करते हण भी, पुस्तकें पढा करता था । नव मेरे मन मे बाह्मी ज्ञानितत्वो न ता परिगिनियो का पभाव पटना शुरू नही हुआ था । वह मेरी

‘लाई हूँ फूलो का हास नोगी मोत तोगी मोत !’ गयरा

‘उमड पग पावम परिपोत फूट रहे नव-नव जगसोन !’

वाली मन स्थिति थी । पढते समय विचार मेरे सामने चित्रों मे उपस्थित होने लगते थे । उन दिनों मैने कुछ समय के लिए पटना स्थित कर लपटे मे फूल-पत्ते काढने का काम हाथ मे ले लिया था । अपनी इस भावातिरेकपूर्ण मान-सिक स्थिति का मूल्यांकन मे पीछे कर सका । इन्ही दिनों मेरी मित्रता श्री पी० सी० जोशी मे घनिष्ठ होती गई । मेरे भावाक्रान्त मन को उनके वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण मे बडी सात्वना मिलनी । जोशी मुझ-सा श्रोता पाकर वाचाल हो उठते थे । उनके विचारों द्वारा मेरे मन मे मानव-सभ्यता के राजनीतिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक विकास की रूपरेखाएँ धीरे-धीरे अकुरित होने लगी, जिन्हे मै पीछे अपने अध्ययन-मनन से अधिक व्यापक एवं समन्वित रूप मे समझ सका । मेरा मन उन दिनों ईसा की उदात्त प्रेम-चेतना मे निमग्न रहता था, जिसे मैने ईश्वर-प्रेम तथा विश्व-प्रेम के रूप मे ग्रहण किया था । मेरा विश्व-प्रेम का क्षितिज जोशी के ऐतिहासिक ज्ञान तथा सामाजिक भविष्य की सभावनाओं से तब विस्तृत तथा वस्तुमूलक बनने की चेष्टा कर रहा था । मेरी विश्व-प्रेम की भावना ने तब कोई विशेष आकार अथवा रूप-रंग ग्रहण नही किये थे । जोशी निश्चल, कर्मठ व्यक्तित्व के नवयुवक थे, मेरा हृदय उनकी मित्रता का सम्मान करता था । इस प्रकार पच्चीस से तीस वर्ष तक के इस अध्ययन-मनन के युग मे जहाँ एक ओर मेरे मन मे भीतर

की ओर जाने अथवा प्रवेश करने के लिए एक नौपान अथवा सेतु बन गया वहाँ बाहर की ओर भटकने अथवा विचरने को एक पथ या पगडण्ठी भी बन गई थी, जिनके मार्थम सम्मिश्रित उपयोग से पीछे, मुझे अपने मूत्रावन गन्धन्धी दृष्टिदोग से व्यापक बनाने से सहायता मिली। उनके उपरान्त अग्नी त्र्यम्बन्धता के कारण विश्राम की अवस्थानता पउने पर मे नन् ३१ में कालाकांकर चला गया। कुंवर नुगेजसिंह में मेरा परिचय पहले केवल पत्र-व्यवहार तक सीमित था। जिन प्रेरणा ने मुझे कालाकांकर भेजा वह वहाँ फलीभूत होनी दिखाई दी। मेरे मन को वहाँ के स्वच्छ गगन वातावरण में सांत्वना तथा शक्ति मिली। मैं वहाँ गद्य सितारण छोट-दम गाल रहा। कालाकांकर में मेरी युवावस्था के सर्वश्रेष्ठ वर्ष नन् '३० से '४० तक वागप्रस्थ स्थिति में ज्ञान-साधना में पशु-पक्षियों के साथ व्यतीत हुए। शक्ति परिस्थितियों के अनिश्चित भी मेरे भीतर तब एतान्त वा इतना उत्थर बोक तथा मानसिक दृढ रहा कि मुझे तारुण्य से प्रगाद-भावना के मुतहने विष को भी जाना पज। सम्भवतः वह आगे चलकर अधिक उपयोगी तथा व्यापक रूप में पुष्पित-पलनित होकर नामने आ सके। कालाकांकर के सम्मरण मेंने इस प्रकार छदबद्ध किये हैं -

गंगा तट था, श्यामल वा थे, नर प्राणों से भगते समर
 जब कन्कल, मन कन्कल करते, प्रवृत्ति नीड था उषस मुन्दर ।
 मैं कृतज्ञ उस ग्राम राज्य था, तूँ बटे मुग से सट दसर
 से मानग मधन से नि से, भग मुतहने स्मृतियों से मन ।
 देसू के पारव वन में पुग बोग, तद एत पशु से सत्कर,
 मनन सम्पन्न रत रूना मन, भीटे पर नभन का सुर ।
 इत्यादि ।

'पक्षय' जगन में नीर पर गंगा तिनारे उँने भीटे पर बनी
 एत छोटी-सी लटेज थी, जिसे मैंने अपने रक्त से दिग्



चुना था। कालाकाकर मे मुझे मानसिक स्वास्थ्य लाभ हुआ। उन दिनों मेरे मन मे जो सघर्ष चल रहा था उसका ग्राभास थोडा-बहुत 'गु जन' की रचनाओं तथा 'ज्योत्स्ना' के रूपक मे मिलाता हे। गु जन मे मेरी व्यक्तिगत साधना के प्रगीत हे

तप रे मधुर-मधुर मन !

विश्ववेदना मे तप प्रतिपल, जग जीवन की ज्वाला मे गत,
बन शकलुप उज्वल श्रो' कोमल, तप रे विधुर विधुर मन !

अकलुप, उज्ज्वल और कोमल ये तीन गुण तब मेरे मन मे वाइविल की पवित्रता, उपनिषदों के प्रकाश तथा कविता-सम्बन्धी कला-प्रेम के प्रतीक रहे हे। 'गु जन' मे 'सम दु ख

छियालीस

सुबे कृत्यां के द्योतक मेरी आत्म-साधना के अनेक छोटे-छोटे प्रगीत हैं, जिनमें मैंने मानसिक द्वन्द्वों में गहुराव स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उनमें विन्द-जीवन के लिए आत्म-त्याग तथा प्रेम का नद्वेन निहित है। सम्मत्त जीवन के व्यक्तिगत संघर्ष से वृष्टित न होकर उन्नत समाधान विश्व स्तर पर तथा ऊर्ध्व स्तर पर सोजने की मेरी प्रवृत्ति पहले से ही रही है।

‘स्थापित कर जग में अपनापन अथवा ‘मानव जग में बैठ जाये मुझ दुःख में औ’ दुःख मुझ में’ अथवा ‘मैं मानव पाया अब तक मुझ से दुःख को अपनाता या ‘अपनी जाली के कांटे बेधते नहीं अपना तन’ तथा ‘दुःखता अपूर्ण मानव जीवन, मैं उच्छा में उन्नत-उन्नत’ आदि अनेक उन्नत-रस्य मेरी उम समय की भावना के द्योतक हैं, जिन्हें ‘सुजन में अभिव्यक्ति मिली है। ‘ज्योत्सना’ में मैंने अपने विन्द-जीवन के स्वप्न को अवनति करने की चेष्टा की है। उम समय मेरे मन में जो राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा लोकजीवन-सम्बन्धी धारणाएँ थीं तथा जो मनोवैज्ञानिक आध्यात्मिक आदर्श मुझे आकृष्ट करने थे उन्हें मैंने एक सादर-रूपक के रूप में उल्लिखित करने का प्रयत्न किया है। कल्पना-प्रधान होने के कारण, सम्मत्त, ‘ज्योत्सना’ की ओर कम लोगों का ध्यान गया है। यह मेरी रस की मौखिक-शिक्षण की साधना या भी सम्बन्धित है। ‘सुजन तथा ज्योत्सना’ में मैंने विन्द-दर्शों की प्रकाश की साधना के ही कारण में बारीकी की है। उन्नत समाधानों का उन्नत ही योगदान है कि जहाँ मुझे उन्नत विचारों का भावनाओं को पुनर्जागरण में प्रयत्न करने का स्वप्न मिलित था। यही वह — जहाँ अन्तर्गत न सोचने के मेरे साहित्यिक जीवन में की-सी उन्नत साधना का

से बाहरी परिस्थितियों में सम्बन्धित नाना-ताना कठि-
 नाइयों प्रतिक्रम रही हैं जिनके कारण मेरा कठिन प्रतिक्रम
 पुष्कल नहीं हो सका। पिताजी का सम्बन्ध टूट जाने के
 कारण मुझे अपने को विलासिता से भिन्न जीवन-परिग्रहानियों
 का सामना करने के लिए तैयार करना पड़ा, जिनके प्रत्य-
 रूप मन को ढालना श्रम-साध्य तथा कठिन प्रतीत हुआ और
 उन नवीन परिस्थितियों से ऊपर उठने में समर्थ भी लगा।
 इस वार कालाकाकर में पाय दो वर्ष तक रहने के बाद
 मैं फिर अल्मोडा चला गया। वहाँ मुझे मार्क्स तथा फ्रायड
 को पढ़ने का विशेष अवसर मिला और अपने भाई से मार्क्स
 का आर्थिक पक्ष समझने में भी सहायता मिली। काला-
 काकर में ग्रामवासियों के अभावग्रस्त जीवन का अज्ञात
 प्रभाव मेरे सौन्दर्य तथा आदर्शप्रिय मन में प्रच्छन्न रूप
 से अवश्य ही पड़ने लगा था। अल्मोडे में मेने डेढ़-दो वर्षों
 में इन नवीन ऐतिहासिक तथा प्राणिशास्त्रीय विचार-
 धाराओं का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया था। मार्क्स के
 सिद्धान्तों का थोड़ा-बहुत परिचय मुझे जोशी से भी मिल
 चुका था। इन विचार-धाराओं के प्रमुख तत्त्वों के आधार
 पर युग-जीवन को समझने की मेरी चेष्टा निरन्तर चलती
 रही। गांधीजी के क्रियाशील व्यक्तित्व तथा असहयोग
 आन्दोलन में भारतीय आदर्शवाद, जो एक नवीन सक्रिय
 रूप में प्रकट हो रहा था, की ओर भी मेरी दृष्टि कालेज
 छोड़ने के बाद से सदैव जागरूक रही, किन्तु प्रथम महा-
 युद्ध के बाद जो पश्चिमी आदर्शवादी विचार-धारा को
 आघात लगा तथा रूसी क्रान्ति के फलस्वरूप जिस नवीन
 सामाजिक यथार्थ की धारणा की ओर धीरे-धीरे ध्यान
 आकर्षित होने लगा और साथ ही वैज्ञानिक युग ने हमारे
 मध्ययुगीन निषेधात्मक दृष्टिकोण के विरोध में जिस नवीन

रचनाओं में 'युगत' से ही जाने लगे थे और पकड़ के मुग से मेरा ध्यान पानव-मुग ही घोर जाने लगा था। 'पल्लव' की अन्तिम रचना 'द्वयागत' जिनमें मैंने अपनी विगत भावना-धारा से विदा ली है और 'गृजन' में 'तगना प्रपूर्ण मानव जीवन' आदि रचनाएं मानव में घटित हो रहे इसी परिवर्तन की द्योतक हैं।

इन वर्षों में, मेरे कवि-जीवन के विकास की दृष्टि से, एक और महत्वपूर्ण घटना हुई, मुझे पहली बार महात्मा गांधी के निकट सम्पर्क में आने का मौभाग्य प्राप्त हो सका। मेरे भाई, जो अल्मोडा जिला कांग्रेस के मंत्री थे,



सघर्ष करना पडा, इसी सघर्ष मे मैं युग-जीवन मे व्याप्त प्रच्छन्न विप के स्वरूप को समझ सका। मेरे कवि-हृदय को नव युग मंगल के लिए एक सर्वगिर्पूर्ण रससिद्ध चेतन्य की खोज थी, जिसकी प्राप्ति के लिए गाधीजी का अतस्पर्श शुभ्र सोपान बन सका। सन् '४० मे मैंने 'ग्राम्या' नामक अपने काव्य-सकलन मे 'महात्माजी के प्रति' शीर्षक कविता मे लिखा था

विश्व सम्यता का होना था नख शिख नय रूपान्तर

राम राज्य का स्वप्न तुम्हारा हुआ न यो ही निष्फल !

'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' की रचना मेरे कालाकाँकर के दूसरे निवास-काल मे हुई। सन् १९३६ के जाडो मे मैं फिर कालाकाँकर चला गया और तब से सन् '४० तक अधिकतर वही रहा। इस युग मे ग्राम-जीवन के वातावरण तथा रहन-महन का निरीक्षण-परीक्षण मे अधिक अच्छी तरह कर सका और अपने आर्थिक राजनीतिक विचारो तथा सांस्कृतिक भावना और कवि-कल्पना की पृष्ठभूमि मे उसे ग्रहण कर उसके पुर्ननिर्माण की सभावनाओ पर विचार करने लगा। कोयल कठ से बोलने वाली, आम्र मजरियो से सुनहले अग सँवारने वाली, असीम शोभामयी, गाँवो की प्राकृतिक थी, मौन निरभ्र विस्मय-भरे नील आकाश के नीचे अपने मातृ अक मे युगो के घोर कुम्प जघन्य दारिद्र्य को लिये जंमे नतमस्तक वैठी थी।

तोस कोटि सतान नग्न तन, अर्ध क्षुधित, शोषित निरस्त्र जन

मूढ असभ्य अशिक्षित निर्धन—नतमस्तक तए तल निवासिनी !

'ग्राम्या' मे 'भारतमाता' की इस 'मिट्टी की प्रतिमा उदासिनी' की गाथा अनेक छंदो मे अंकित है। कालाकाँकर मे मेरे सौन्दर्य-प्रेमी हृदय को गाँवो की अत्यन्त दयनीय दुरवस्था का दृश्य देखकर अनेक बार कठोर आघात भी

नगे हं श्रीर मेरा विचार-जगत् ध्रुव्य तथा विचिन्तित होता
 न्हा है :

सुनन यहाँ रे फदि को जग में युग का नहीं मत्त शिव सुन्दर ?
 फौ-फौ उठते उनके उन को व्यथा-विमूर्छित बीरान के स्वर ।

प्रथवा

प्राता मीन प्रभात प्रकेता, नंध्या भरी उदासी,
 यहाँ घूमती दोपहरी में स्वप्नों की छाया नी ।

प्रवृत्ति धाम यह . तूरा तूरा बरा बरा यहाँ प्रफुल्लित जीवित
 यहाँ प्रवेला मानव ही रे, चित्र विपणन, जीवत-मृत । प्राति
 अनेक रूप में मैंने अपने व्यक्तिगत तथा लोग-जीवन
 मन्वन्धी अवसाद को उन गाल की रचनाओं में चांगी दी
 है । अपनी व्यक्तिगत मुविधाओं के लिए निश्चिन्त होने पर
 भी, उन वर्षों के अपने भावनाजनित निर्मम मूने प्लासीपन
 को, जिनके लिए मैंने 'खोज रहा प्लासी जीवित माधी
 स्नेह सहारा' लिखा है, मैं अपने युग-चिन्तन तथा भावी
 मानवता की कल्पना के स्वप्नों में ही परिचुन कर रस-
 निहत बना रहा है जो मेरे अपने अस्तित्व की रक्षा के
 लिए भी आवश्यक हो गया था । प्रवृत्ति-निरीक्षण, अध्वरुण
 नारा धन-जीवन की विपन्नता का विवेक्षण, गान्धार्यान्त्र
 के निगमन-काल के मेरे प्रमुख जीवन-अवसन्द रहे हैं ।
 मद्र '३६ में '४० तक मैंने प्राता अधिमान्य रसल केवद
 पठन-शासन, चिन्तन तथा सूचन को ही शिया है, उन वर्षों
 में मैं एक वीरिण मने की तरह रहा है । विषय नास्तिक,
 यार्थित काज तथा पूर्व-परिष्कार की प्राचीन-मयी
 प्रितान-शासकों में मैं भी अत्यन्त पर गणना का हूँ
 मैंने धन्यवाद करने का अवसर मिला । प्रकृत चरकर
 हीन में निरररर इस युग में मैंने भावनाय रसन्तुति में प्रिय

अनेकात विचार-गरणियो का भी गभीर मनन किया और मानव-चेतना के नवीन विकास की दिशा का आभास भी मेरे मन को इसी युग में मिला, जिसे अनेकानेक उदाहरण 'ज्योत्स्ना', 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में मिलते हैं

जग जीवन के अतर्मुख नियमों से स्वतः प्रवर्तित मानव का अवचेतन मन हो रहा आज परिवर्तित ।
नव प्रकाश में तमस युगों का होगा स्वयं निमज्जित
प्रतिक्रियाएँ विगत युगों की होंगी स्वयं पराजित ।

अथवा

छायाएँ हैं सस्कृतियों मानव की निश्चित
वह केन्द्र, परिस्थितियों के गुण उसमें विम्बित,
मानवी चेतना खोल युगों के गुण कवलित
फिर नव सस्कृति के वसनो से होगी भूपित । इत्यादि ।

कालाकारों में कुँवर सुरेशसिंह तथा उनकी पत्नी से मुझे परिवार के प्राणी की तरह जो स्नेह-मद्भाव मिला उसके लिए कृतज्ञता प्रकट न करना अक्षम्य होगा । श्रीमती सुरेशसिंह के जन्म-दिवस के अवसर पर लिखी हुई मेरी कविता उनके प्रति मेरे स्नेह की शुभ्र स्फटिक गवाक्ष है । यदा-कदा वहाँ साहित्यिक मित्र भी आते रहते थे और कभी मैं ही प्रयाग या राखनऊ में उनके पास चला जाता था, जिससे जीवन की विरम एकरूपता भंग होती रहती थी ।

'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में मैंने अपने सामाजिक दर्शन को वाणी दी है । मेरे बहुत से आलोचकों को मेरी इस काल की रचनाओं में असंतोष है—काव्य-प्रेमियों को इसलिए कि 'युगवाणी' में पत्तल के मामले का अभाव है एवं 'ग्राम्या' में गाँवों को खोखली प्रचलित भावुकता में लपेटकर स्वर्ग नहीं बताया गया है, राजनीतिक मतवादियों को इसलिए कि उनमें उन्हें अग्नि-भरी विध्वंसकारी फुकार न मिलाकर केवल रचनात्मक मानवीय पुकार ही मिल

जीवन

विकास युद्धक्षेत्र ही में हुआ । दो विश्व-युद्धों के अतिरिक्त, जिनका प्रभाव हमारे विचार-जगत् तथा विश्व-जीवन सम्बन्धी धारणा पर निश्चित रूप से पड़ा है, स्वयं हमारे देश और घर में जो अहिंसात्मक संग्राम मन् '४७ तक निरन्तर अनेक रूपों में चलता रहा है, वह विचारों, आदर्शों तथा मान्यताओं की दृष्टि से, ज्ञात-अज्ञात रूप में, हमें शिक्षा देता रहा है । उमने गांधीजी के व्यक्तित्व में एक तप पून उदार रूप धारण कर तथा अहिंसात्मक युद्ध के प्रति विश्व के अन्य देशों की जनता की सद्भावना जागृत कर हमारी व्यापक मनुष्यत्व की भावना तथा आस्था सम्बन्धी दृष्टिकोण को अपने सात्विक, सक्रिय, ओजस्वी स्पर्श से निरन्तर अनुप्राणित किया है । इसीलिए छायावाद-युग में हिन्दी-काव्य भारतीय पुनर्जागरण की चेतना तथा लोक-जागरण के आह्वान के साथ सांस्कृतिक परम्पराओं को भी युगबोध के अनुरूप नवीन वाणी दे सका है और उसका सृजन-दान अपना एक विशेष महत्त्व रखता है ।

कालाकाँकर में मुझे अपने देश की मध्ययुगीन रूढ़िप्रिय संस्कृति को समझने तथा उसका विश्लेषण करने का अवसर मिला । 'ग्राम्या' के अन्तर्गत 'ग्रामदेवता' शीर्षक कविता में मैंने अपने तत्सम्बन्धी विचार प्रकट किये हैं । पश्चात्त्य दर्शन के अध्ययन से—जिससे तर्क-बुद्धि की क्षमता तथा विश्लेषण करने की शक्ति मिलती है—मुझे अपने देश के सामजस्यवादी दृष्टिकोण को समझने में सहायता मिली । 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' की रचनाओं में ग्रामजीवन में प्रचलित मध्ययुगीन रूढ़ियों तथा पधविश्वासों के प्रति मेरे मन की प्रतिक्रिया का आभास मिलता है । इन वर्षों में मुझे तीन-चार बार शान्ति-निकेतन जाने तथा गुरुदेव के निकट सम्पर्क में आने का भी अवसर मिला ।

मे तब मव्यवस्थित रूप से रहने मे मुझे कठिनाई प्रतीत हुई । अल्मोडे मे मेरे भाई उन दिनों माननीय पतजी तथा अन्य नेताओं के साथ कारावाग मे थे । कुंवर सुरेजसिंह भी, जो नमक-मत्याग्रह के मवसार पर जेल जा चुके थे, तब अल्मोडे ही मे नजरबन्द थे । उम कारण मुझे मन् '४१ मे प्राय एक वर्ष तक अल्मोडे मे रहना पडा । उम प्रमगर पर मे वहा उदयशकर मस्कृति-केन्द्र के भी मपर्क म प्राया, जहाँ मे प्रारम्भ मे कुछ समय तक नाटक का क्लास लेता रहा । इन्ही दिनों मैने 'आधुनिक कवि भाग २' की भूमिका मे अपने तत्कालीन विचारों को मगृहीत करने का प्रयत्न किया, जिसमे सास्कृतिक मान्यताओं के साथ ही भौतिक मान्यताओं के पक्ष का भी समर्थन किया गया हे ।

मन् '४२ मे 'भारत छोडो' आन्दोलन के फलस्वरूप विदेशी सरकार के दमन ने छोटे-बडे कस्बों तथा शहरों मे जो वीभत्स रूप ग्रहण किया उससे मेरा चित्त अत्यन्त क्षुब्ध तथा अशांत हो उठा । राजनीतिक मघर्ष के साथ ही मनुष्य की मानस-रचना के लिए, या उसके भीतर के सोए मनुष्य को जगाने के लिए, आज के युग मे एक समातर सास्कृतिक आन्दोलन की भी उतनी ही आवश्यकता हे, ये विचार फिर-फिर मेरे मन मे उठने लगे । अपनी इस प्रेरणा के वशीभूत हो मैने मन् '४२ मे लोकायन के नाम से एक व्यापक सास्कृति पीठ की योजना बनाई जिसमे रगमच को सास्कृतिक प्रेरणा का माध्यम बनाने का विचार प्रस्तुत किया गया था । किन्तु उस नैराश्य तथा औदास्य के वातावरण मे उसे मूर्त रूप देने मे अपने को असमर्थ पाकर मै फिर अल्मोडा उदयशकर सास्कृति-केन्द्र मे चला गया । इसके दो कारण थे । एक तो भाई के जेल मे होने के कारण उनके बच्चों की देख-रेख के लिए तब वहाँ कोई नहीं था,

नव मानवता का स्वप्न

सन् १९४५ से १९५६ तक

अत्मोटे मे, नगर से प्राय दो-ढाई मील दूर, एक एकांत मनोरम स्थान मे वयोवृद्ध अमरीकी कलाकार मिस्टर-मिसेज ब्रूस्टर रहते थे, जिनके यहाँ कभी-कभी मे अपने भाई स्व० श्री देवीदत्त पत के साथ चला जाता था । वह भाई के वडे प्रशंसक थे । जब भाई कारावास भोग रहे थे और मैं उदयशकर मस्कृति-केन्द्र मे रहता था, उन्होने दो-एक बार मुझे भाई के समाचार जानने के लिए बुलाया था । बडी देर तक वह अपने चित्र दिखलाते रहे, जिनमे अधिकांश अत्मोटे की ग्राम-पास की पहाडियो तथा हिम-शिखरो के रंग मुखर धूपछाँहो के दृश्य थे । मि० ब्रूस्टर के रंगो के विविध मिश्रण तथा प्रयोग मुझे बहुत पसन्द थे । उन्होने मुझसे कहा, “मैं समार-भर मे घूमा हूँ, मुझे अत्मोटे-सा शान्त मुन्दर स्थान दूसरा नही मिला । अब

गुरुगो का विकास होने के बदले वह केवल समतल शक्तियों में जूझने के लिए यन्त्र-मात्र बन जाय और उसे मनुष्यत्व के मूल्य पर बाह्य व्यवस्था तथा सतुलन स्थापित करना पड़े तो ऐसा समाज या तन्त्र और जिसके भी योग्य हो मनुष्य के रहने योग्य नहीं कहा जा सकता। भौतिक दृष्टि में सम्पन्न और मानसिक-आत्मिक दृष्टि में ग़िबत प्रकृति मनुष्य संभवतः मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। आज के राजनीतिक आन्दोलनों की एकाग्रता की पूर्ति तथा सर्वांगीण विकास की परिपूर्णता के लिए मुझे युग-जीवन के अनुरूप एक व्यापक सांस्कृतिक जागरण की भी अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत हुई, जिसकी चर्चा मैंने विस्तारपूर्वक 'उत्तरा' नामक अपने काव्य-संग्रह की भूमिका में की है।

गांधीजी के अहिंसात्मक आन्दोलन में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की संभावनाएँ थीं। स्वामी विवेकानन्द के श्रोजस्वी विचारों में जो एक उन्नत आध्यात्मिक जीवन तथा व्यक्तित्व की कल्पना मिलती है उसकी पूर्ति गांधी-दर्शन तथा उनका व्यक्तित्व करता था, किन्तु युग के पलकों में जो एक विश्व लोकसंस्कृति—रवीन्द्रनाथ के अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति नहीं—तथा भू-मानवता का स्वप्न उद्भासित हो रहा था, दर्शन की ऊर्ध्व रीढ़ के साथ, नैतिक सदाचार से ऊपर, जो एक महज रस तथा सौन्दर्य की परिष्कृत मामलता के स्पर्श की आवश्यकता प्रतीत होती थी, उसकी संभावना, जागरण तथा सुधारवादी आन्दोलन होने के कारण, तब मुझे मात्र गांधीवाद के ही सहारे सम्पन्न होती नहीं दीखती थी। गांधीवाद का आधार मुख्यतः दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक आदर्शवाद रहा है, उसमें वैज्ञानिक यथार्थवाद का परिपाक नहीं



ही मिलता है। अपने उग्र ऊहापोह में मुझे नास्त्रिक चिन्तन से लेकर भौतिक दर्शन तथा जेब मनोविज्ञान तक एक अन्योन्याश्रित मगति तथा एकता का प्राधान्य तो मिलता था, जैसा कि मेरी 'युगनाणी-ग्राम्या' की रचनाओं में भी प्रकट होता है, पर उस एकता तथा सामान्य का व्यापक स्पष्ट चित्र तब मेरी कल्पना में नहीं उतर पाया था। उदयशकर सस्कृति-केन्द्र वास्तव में नृत्य-केन्द्र था। वहाँ मूल्यो-सम्बन्धी मर्ष तथा जिज्ञासा का समाधान मिलना संभव नहीं था, किन्तु वहाँ के कलात्मक वातावरण में श्री अरविन्द की 'लाइफ डिवाइड' का प्रथम भाग पढ़ने पर अपनी अनेक शकाओं का उत्तर मुझे स्वतः ही मिलने लगा और विश्व तथा मन के आन्तरिक विधान-सम्बन्धी मेरा ज्ञान स्पष्ट होने लगा। एक प्रकार से मैं पहला ही भाग पढ़कर अपनी कल्पना की राहायता से श्री अरविन्द के सम्पूर्ण दर्शन का आभास पा गया। अपने अनेक विश्वासों का मुझे श्री अरविन्द दर्शन में समर्थन मिलने से मेरे मन में मानव-जीवन के भविष्य के सम्बन्ध में एक नई आशा तथा प्रेरणा का संचार होने लगा। इन्हीं दिनों सयोगवश उदयशकर सस्कृति-केन्द्र में नृत्य सीखने के अभिप्राय से पाडिचेरी आश्रम से श्री अरविन्द के प्राइवेट सेक्रेटरी श्री पुराणोजी की लडकी अपनी माताजी के साथ अल्मोडे आईं। माताजी अल्मोडे में दो-एक वर्ष उसी मकान में रही जिसमें मैं उन दिनों रहता था। उनसे परिचय तथा हेल-मेल बढ़ जाने पर आश्रम के बारे में अनेक विषयों का मेरा ज्ञान बढ़ने लगा। साथ ही श्री अरविन्द के कुछ काव्य-ग्रन्थ तथा कुछ अन्य पुस्तकें—'द मदर', 'लाइट्स ऑन योग', 'थॉट्स एण्ड ग्लिम्पसेज' तथा 'एसेज ऑन गीता' आदि पढ़कर मेरी

इसका निर्णय भविष्य ही कर सकेगा। मेरी इस काल की रचनाओं को राजनीतिक मतवाद से कट्टर सघर्ष करना पड़ा और उन्हें मतवाद आलोचकों का प्रतिरजित आक्रोश तथा विद्वेषपूर्ण विरोध सहना पड़ा। 'उत्तरा' तथा 'चिदम्बरा' की भूमिकाओं में मैंने अपनी रचनाओं के इस नवीन मोड़ पर विस्तृत विवेचन करने का प्रयास किया है। 'पल्लव', 'आधुनिक कवि', 'उत्तरा' तथा 'चिदम्बरा' की विस्तृत भूमिकाओं में मुझे युग कदम के पर्वतों को लांघकर, काव्य-भावना के स्तर को अपने साहित्यिक जीवन के चार कठिन मोड़ों से आगे बढ़ाने के लिए, कवि से आलोचक बनने को बाध्य होना पड़ा है। पल्लव युग के सामने खड़ी बोली को कविता का माध्यम बनाने तथा नवीन (छायावादी) काव्य-प्रभिव्यजना को स्विकृति मिलने का प्रश्न था। आधुनिक कवि के प्रकाशन के समय युगवाणी-ग्राम्या की भावना-धारा के रूप में भारतीय आदर्शवादी प्राध्यात्मिक परम्परा के अचल में वैज्ञानिक यथार्थवाद को बांधने का प्रश्न था। उत्तरा के सम्मुख नवीन सांस्कृतिक चेतना की सुनहली किरण (स्वर्ण-किरण) के प्रकाश में भौतिक वास्तविकता का अभिनव मूल्यांकन करने की समस्या थी। और चिदम्बरा में पश्चिम के युद्धोत्तर सांस्कृतिक हास तथा मध्यम वर्गीय बुद्धिवादियों के व्यक्तिवाद से प्रतिरजित हिन्दी के प्रयोगवादी साहित्य के सम्मुरा विश्व-मानवता के व्यापक धरातल पर नवीन समूहीकरण के मूल्यों पर प्रकाश डालने का प्रश्न रहा है। इस प्रकार मैंने काव्य-चेतना की गहराइयों में डूबकर युग की विचार-पद्धतियों के विरोधों को सुतझाने का भी विनम्र प्रयास किया है।

मेरे मद्रास के प्रवास-काल में, द्वितीय विश्वयुद्ध की

छियासठ

के भीतर कहां समा सकता है. मैं तो यही से विश्व-भर में भ्रमण करता रहता हूँ। रात्र यह है कि मैं सदैव अपने ही मन में, अपने ही कल्पना-लोक के भीतर रहा हूँ और मेरे कल्पना-जगत् में सदैव इतना जीवन का स्पन्दन रहा है कि मुझे रिक्तता का अनुभव कभी नहीं निगल सका है। मेरा अन्तःकरण किसी-न-किसी समस्या से सदैव उलझता रहा है। पर के प्रति, सर्व के प्रति उसका ऐसा स्वाभाविक तथा जन्मजात आकर्षण रहा है कि अपने बाह्य जीवन-सम्बन्धी छोटे-मोटे अभावों की ओर मुडकर या अपने सुख-दुःख में रमकर उसने कभी सोचना ही स्वीकार नहीं किया। सम्भवतः इसीलिए अत्यन्त निर्मम परिस्थितियों में भी मुझे कुण्ठा तथा नैराश्य का अनुभव कुचल नहीं सका। गुजरात काल में अपने पारिवारिक वातावरण से विच्छिन्न हो जाने की छटपटाहट में जब कभी मेरा मन बाह्य जीवन-सघर्ष से विचलित होकर अपने छोटे अस्तित्व की ओर मुड़ा तब उसने 'जगत् जीवन की ज्वाला में गल, बन प्रकलुष उज्वल और कोमल' अथवा 'मैं सीख न पाया अब तक सुख से दुःख को अपना' की ही इच्छा प्रकट की। 'विश्वास चाहता है मन विश्वास पूर्ण-जीवन पर' अपने क्षुद्र स्वार्थों को सीमाएँ अतिक्रम कर मेरी कल्पना सदैव व्यापक जीवन की पूर्णता के लिए मुझे लाधती रही है।

प्रयाग पहुँचने पर 'स्वर्गाकिरण' तथा 'स्वर्गधूलि' नामक अपने नवीन काव्य-संग्रहों के प्रकाशित हो जाने पर मैंने अपने खैयाम की रूवाइयों के अनुवाद को भी इधर-उधर सँवार-सुधारकर 'मधुज्वाल' के नाम से 'भारती-भण्डार' के अनुरोध पर प्रकाशित करवा लिया। यह अनुवाद मैंने सन् १९२६ में फारसी की रूवाइयों से स्वर्गीय शसगर साहब गोडवी की सहायता से किया था। इसकी

पृथक्-पृथक् साहित्यिक सस्थाओं में विद्वेष, कटुता तथा
 सकीर्णता का प्रदर्शन होने लगा था। मुझ जैसे साहित्य-
 सेवी को, जो अपने को किसी दल का अंग न बना सका,
 दोनों शिविरो की प्रच्छन्न-अप्रसन्नता का लक्ष्य बनना पडा।
 सन् '५० में ऑल इंडिया रेडियो में परामर्शदाता के पद
 पर नियुक्त होने पर उस अप्रसन्नता ने व्यक्तिगत विद्वेष
 का क्षुद्र रूप भी धारण किया, जिसके अनेक उदाहरण उस
 काल की पत्र-पत्रिकाओं में अनेक रचनाओं के रूप में देखे
 जा सकते हैं। रेडियो का वहिष्कार मेरी दृष्टि में आधार-
 हीन तथा असंगत था, इसलिए वह अधिक दिन नहीं ठहर
 सका। स्वराज्य मिलने के बाद हमारे भीतर का दवा हुआ
 मध्ययुगीन मन बाहर निकल आया है। आज भी देश के
 अधिकांश लोग उसी सीमित-खंडित मानसिकता से परि-
 चालित हैं, जिसे क्षीण तथा निशेष होने में अभी समय
 लगेगा। आकाशवाणी द्वारा आज देश की अन्य भाषाओं के
 साथ हिन्दी का भी प्रसार तथा हित हो रहा है। मुझे
 रेडियो से सम्बद्ध होकर मानसिक लाभ ही हुआ। सन् '५७
 की अप्रैल तक, जब तक मैं रेडियो से प्रत्यक्ष रूप से संबद्ध
 रहा, मेरे 'रजत शिखर', 'शिल्पी', 'सौवर्ण' तथा 'अतिमा'
 के नाम से चार काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए। प्रथम तीन
 पुस्तकों में मेरे ग्यारह पद्यबद्ध समस्या-रूपक संगृहीत हैं,
 जिनमें मैंने युग-जीवन की अनेक प्रमुख समस्याओं पर
 विवेचन किया है। इनमें भी 'ध्वसशेष' तथा 'सौवर्ण'
 नाम के मेरे काव्य-रूपक विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। 'ध्वसशेष' में
 मैंने अणुयुद्ध के बाद नवीन जीवन-रचना की दिशा की ओर
 इंगित किया है। उसमें मैंने वर्तमान युग का मूल्यांकन भी
 किया है। 'सौवर्ण' में मेरी नवीन मानवता की कल्पना
 का निदर्शन मिलता है। उसमें मैंने अपने देश की मध्य-

मेरी 'ज्योत्स्ना-ग्राम्या' में निहित आदर्श यथार्थवादी विचारधाराएँ मेरे चेतना-काव्य में एक व्यापक सांस्कृतिक सामजस्य में विकसित होकर धरती पर नवीन लोक-जीवन, विश्व-मानवता तथा मानव-एकता की प्रतिष्ठा के लिए सचेष्ट रही हैं। मानव-एकता का सत्य मानव-समानता के सत्य से अधिक महत्त्वपूर्ण है, किन्तु समानता के सत्य को अतिक्रम कर मानव-एकता की स्थापना सम्भव नहीं। वैज्ञानिक युग की विकसित परिस्थितियों के अनुरूप मानवता के बहिरन्तर जीवन का समूहीकरण होना अनिवार्य है। इसकी जितनी उपेक्षा की जायगी यह सर्वव्यापी समानता की भावना उतनी ही सशक्त तथा उग्र होती जायगी। आज जब हम साहित्य में वैयक्तिक मूल्यों के मोह या दर्प में सामूहिकता के मूल्यों की अवहेलना करते हैं तब हम भूल जाते हैं कि किसी पिछले ऐतिहासिक युग या युगों में मानवता का पिछली (सामान्तकालीन) परिस्थितियों के अनुरूप समूहीकरण एवं सामजस्यीकरण हो चुका है। आज की हमारी क्षुद्र अहता अथवा पृथक् वैयक्तिकता उसी विगत सगठित चैतन्य की स्फुलिंग मात्र है और उसी सांस्कृतिक क्षितिज के भीतर ऊब-डूब करती है। उसे हम अधिक महत्त्व देकर मानवता के नवीन समूहीकरण के पथ में बाधा उपस्थित करते हैं। द्वितीय युद्ध के बाद पश्चिमी विवेकवादी, अस्तित्ववादी, पुनर्जागरणवादी या ह्यासोन्मुख कुण्ठावादी साहित्य से प्रभावित आज की हमारी नवीनतम साहित्य की कुछ धाराएँ भी उसी मरणोन्मुख विगत मानव चैतन्य की टिम-टिमाती हुई, क्षणदीप्त, आत्ममुग्ध, क्षीण लौ हैं, जिन्हें व्यापक समूहीकरण के मूल्यों में मिलकर स्वयं को विकसित तथा सामूहिक उन्नयन की धारा को अधिक व्यापक, वैचित्र्यपूर्ण तथा समृद्ध बनाना है। नवीन सामूहिकता का भविष्य

तभी उज्ज्वल हो नकेगा जब वह विगत साम्प्रतिक सचय को प्रात्मनाम् कर नकेगी। अतः आज के साम्प्रतिकता के साथ संशय को व्यापक तथा धैर्यशील तथा धैर्यविनाश के अन्तःसन्तर्ग को विनष्ट तथा अन्तर्गतनीय बनाना पड़ेगा। साम्प्रतिकता का विरोध आज के युग में केवल सन्देहवाद, कृष्णवाद तथा ग्लान विचार अन्तर्गतनीय को ही उत्पन्न देगा। मानव-प्रकृति का सन्तर्ग अन्तर्गतनीय पर अन्तर्गतनीय परिपूर्णता में तब तक प्रतिष्ठित नहीं हो सकेगा, जब तक समानता का साम्प्रतिक सन्तर्ग उसके लिए उपयुक्त परिस्थितियों का ही प्राप्ति नहीं कर सकेगा। साम्प्रतिक सन्तर्ग का अधिकारिक सन्तर्गयोग तभी ही सकेगा जब वह सन्तर्ग-निर्माण तथा पदभ्रान्त न बनकर सन्तर्ग तथा अन्तर्गतनीय को उचित मानवीय मानवों के प्रयोग द्वारा प्रप्रेते को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करे, अन्तर्गतनीय उमरत विरोध तथा अन्तर्गतनीय को विनाश का याना अन्तर्गतनीय है। आज का युग सन्तर्ग का उपयुक्त का युग नहीं, वह साम्प्रतिक, अन्तर्गतनीय, मानव-मित्र, साम्प्रतिक, अन्तर्गतनीय आदि तभी ही सकेगा, कि सन्तर्ग, विनष्ट का युग है।

मेरी मनु ५८ को सन्तर्गों का सन्तर्ग अन्तर्गतनीय को उचित मानवीय मानवों के प्रयोग द्वारा प्रप्रेते को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करे, अन्तर्गतनीय उमरत विरोध तथा अन्तर्गतनीय को विनाश का याना अन्तर्गतनीय है। आज का युग सन्तर्ग का उपयुक्त का युग नहीं, वह साम्प्रतिक, अन्तर्गतनीय, मानव-मित्र, साम्प्रतिक, अन्तर्गतनीय आदि तभी ही सकेगा, कि सन्तर्ग, विनष्ट का युग है।

सामाजिक तथा सांस्कृतिक कार्य को समर्पित करना चाहता हूँ। धरती की करुणा और काल का वरदान ही मेरे इन स्वप्नों को पूरा कर सकते हैं। युगवाणी में मैंने लिखा था
 'सघर्षों में शान्ति बनूँ मैं !'

अधकार में पड़ जीवन के अधकार की कान्ति बनूँ मैं ।
 अपने भीतर अब भी मैं नवीन चेतना के सघर्ष के गम्भीर मेघ उमड़ते पाता हूँ और अब भी 'युगवाणी' के युग की अभीप्सा मेरे भीतर ज्यो-का-त्यो अपना कार्य करती प्रतीत होती है। इसमें सन्देह नहीं कि सबसे पहले मेरे भीतर प्राप्ति का सघर्ष रहा है, 'ग्राम्या' के वाद सच्य करने का और अब अपने मानस-सच्य को विनम्र अजलि के रूप में धरती के चरणों पर सँजोने का। इस धरती के जीवन के प्रति अपने को सार्थक रूप में समर्पित करने का सघर्ष में निरन्तर अपने अन्तरतम में जागरूक पाता हूँ। भविष्य को क्या स्वीकार है, इसे कौन जानता है। इन लेखों के उपसंहार रूप में इतना ही कहने की इच्छा होती है कि अजेय अपरिमेय अक्षमताओं का नाम ही मनुष्य का व्यक्तित्व है। भीतरी अयोग्यता के अतिरिक्त बाहरी परिस्थितियों की बाधाओं के दुर्लभ्य पर्वत मेरे मन सस्कार, कवि कर्म प्रेरणा, आत्म-प्रस्फुटन या विकास के पथ में रहे हैं। अपनी रचनाओं तथा व्यक्तित्वगत जीवन के सम्बन्ध में इन लेखों में विस्तारपूर्वक कहना संभव नहीं था। अपने सम्बन्ध में मैंने उतना ही कहना यथेष्ट समझा जितना अपने साहित्यिक जीवन की विकास-रेखा को स्पष्ट करने के लिए मुझे अनिवार्य प्रतीत हुआ। फिर भी कहीं उसमें अनुचित रूप से अतिरजना अथवा आत्मश्लाघा का भाव आ गया हो तो उसके लिए खेद प्रकट करता हूँ। स्वतन्त्रता मिलने के बाद हमारे साहित्य

चौहत्तर

मैं अनेक प्रकार की स्वल्प-ग्रन्थमय प्रवृत्तियों का उदय
 हुआ है। यह हमारे आत्म-निरीक्षण-परीक्षण का पहला
 ही चरण है। अभी हमारी सृजन-चेतना अपने दीर्घ-
 कालीन आत्म-दमन की कुण्डियों, पीड़ाओं तथा हस्तों में
 मुक्त नहीं हुई है, वह उन्हीं को बाणी देकर मुक्ति का
 अनुभव कर रही है। आज हमारी तथा पीरी परस्पर ती
 नियों में पीठिन ही दूसरे पर अवाच्छित प्रहार तथा
 अनर्गल आक्षेप करने की स्वच्छन्दता प्राप्त कर अपने में
 साहस तथा दल का अनुभव कर रही है। जीवन की
 परिस्थितियों के सन्तुलित तथा मानसिक वातावरण के
 स्वच्छ, मिन्य तथा शान होने पर हम एक-दूसरे की
 प्रीतियों का मूल्यवान् अधिक निष्पदाता के साथ, पूर्वग्रह
 तथा दलबन्धियों में मुक्त होकर एक नये गौरवान्
 गते हुए ती सृजन-प्रेरणा अर्थात् उपयोगी तथा न्यायी
 प्रीति ही जन्मदात्री बन गयेगी, जहाँ शुभ मन्त्रों के
 साथ उन मन्त्रियों को समाप्त करता है।



